

ओ३म्

दिव्य द्यानन्द



क्षितिश वेदालंकार

॥ ओ३म् ॥

दिव्य दयानन्द

क्षितीश वेदालंकार



आर्य प्रकाशन

८१४, कूण्डेवालन, अजमेरी गेट, दिल्ली

प्रकाशक :

तिलक राज आर्य

आर्य प्रकाशन

८१४, कूण्डे वालान

अजमेरी गेट, दिल्ली-६

दूरभाष : ०११-२३२३३२८०

संस्करण : २००५

© प्रकाशकाधीन

मूल्य : २५.००

प्रस्तावना

आचार्य पं० क्षितिश कुमार जी वेदालंकार ने हम लोगों पर बड़ा उपकार किया है। महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी के अवसर पर उन की सशक्त लेखनी से लिखी गयी यह पुस्तक “दिव्य दयानन्द” आर्य जनता के लिए विशेष उपादेय होगी। ऋषि दयानन्द के सम्बन्ध में उन के जीवनकाल से ही अनेक पुस्तकें लिखी जाने लगी थीं। ऋषि ने स्वयं अपने आत्मचरित में जीवन की घटनाओं के कुछ संकेत दिए थे। उन की लिखी जीवनी का यह अंश ‘थियोसोफिस्ट’ पत्रिका में अंग्रेजी में छपा। अपने पूना-प्रवचनों के अन्तिम प्रवचन में भी ऋषि ने जीवन की कुछ बातों पर प्रकाश डाला। मृत्यु के अनन्तर पं० लेखराम जी ने उन के जीवनविवरणों का संकलन किया और बाद के वंगीय योग्य विद्वान् श्री बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने अनेक शंकापूर्ण बातों पर यथातथ्य सूचनाएँ हमें दीं। अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू बंगाली, गुजराती आदि भाषाओं में ऋषि की छोटी-बड़ी अनेक जीवनियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। महापुरुषों की जीवनियाँ कई लक्ष्यों की दृष्टि से लिखी जाती हैं—

(१) इतिहास, (२) उद्बोधन और प्रेरणाएँ, (३) मिशन की पूर्ति, (४) सिद्धान्तों का प्रचार और (५) आस्था।

श्री क्षितीश जी की यह कृति सामान्य जनता के लिए लिखी गयी है। पुस्तक मनोरंजक भाषा में है। बीच-बीच में कविताएँ और गीतिकाएँ भी हैं। राष्ट्र के प्रति जनता प्रेरित हो और राष्ट्र उन्नायकों में महर्षि दयानन्द के उच्चतम गरिमामय स्थान को भली-भांति समझे। यह इस पुस्तक का लक्ष्य है। सामाजिक जीवन के अतिरिक्त महर्षि का एक व्यक्तिगत जीवन भी था— तपस्या, सत्यनिष्ठा निर्भीकता, साहस, सहिष्णुता, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य एवं सम्यता और संस्कृति के प्रति अटूट प्रेम।

श्री क्षितीश जी हमारे लब्धप्रतिष्ठ पत्रकार, ग्रन्थकार, विद्वान् और चिन्तक हैं। प्रकाशक को यह बधाई कि वह क्षितीश जी की लेखनी से ऐसी सुरुचिपूर्ण सर्वोपयोगी पुस्तकें ललित भाषा में लिखा सका। पाठकों को आशीर्वाद।

नई दिल्ली

१६ अक्टूबर, १९८३

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

जन्म और बोध

अवतरणिका

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ की बात है। सन् १९५७ में हुई प्लासी की लड़ाई में अंग्रेजों से हारने के पश्चात् भारत में मुगल शासन का सूर्य अस्त हो रहा था और अंग्रेजों के शासन का सूर्य धीरे-धीरे उदय हो रहा था। अठारहवीं सदी के अन्त तक मुगल साम्राज्य की समाधि-भूमि पर ब्रिटिश साम्राज्य की जयपताका लहरा चुकी थी, पर देश में शान्ति स्थापित नहीं हुई थी।

चारों ओर अराजकता का बोल-बाला था। देशी राजाओं और नवाबों के साथ अंग्रेजों की चाहे जब मुठभेड़ होती रहती थी। चोरी और डकैती का जोर था। नरहत्या को खेल समझने वाले ठगों के आतंक से जनता सदा त्रस्त रहती थी। सामाजिक स्थिति इतनी दयनीय थी कि चार आश्रमों और चार वर्णों की दृढ़ नींव पर टिके समाज की एक-एक चूल हिल रही थी। छूआछूत ने समाज को हजारों भेदों में बांट रखा था। कन्याओं को जीते जी पृथ्वी में गाड़

देने में कुल का गौरव समझा जाता था। पति के मर जाने पर सैकड़ों अबलाओं को ढोल ढमाके के साथ आग की भेट कर जबर्दस्ती सती कर देने को परम धर्म समझा जाता था।

देश में नाना सम्प्रदाय और अनेक मत-मतान्तर अपनी जड़ जमा चुके थे। वे ईर्ष्या द्वेष में इतने उलझे हुए थे कि किसी को भी देश और जाति की चिन्ता नहीं थी। धार्मिक क्षेत्र में पाखण्ड का बोलबाला था। पादरी लोग गरीबी की मार से पीड़ित नर-नारियों को तरह-तरह के प्रलोभन देकर ईसाई बना रहे थे, और मुल्ला-मौलवी उन्हें इस्लाम की दीक्षा दे रहे थे।

सर्वत्र अराजकता और अशान्ति के कारण भारत का वातावरण अन्धकार से आच्छान्न था।

जन्म एवं बाल्यावस्था

निराश जनता इस अन्धकार को दूर करने वाली किसी दैवी ज्योति की ओर टकटकी लगाए थी। तभी भारत के पश्चिमी सीमान्त स्थित अरब सागर की चंचल लहरों से प्रक्षालित सौराष्ट्र (गुजरात) के भूभाग पर, मौरवी राज्य के टंकारा नामक नगर में, एक कुलीन ब्राह्मण के घर सन् १८२४ में एक बालक ने जन्म लिया।

पिता धनाद्य जर्मीदार थे और सरकार की ओर से राजस्व उगाहने के लिए अधिकारी नियुक्त थे। कभी बाहर जाते तो बरकन्दाज और सिपाही अंगरक्षक के रूप में उनके साथ चलते। माता सरल और स्नेहिल स्वभाव की धर्म-निष्ठ महिला थीं। पिता कट्टर शैव थे और संस्कृत के आच्छे विद्वान् थे। विवाह के लगभग १४ साल बाद यह बालक उनकी पहली सन्तान थी। इसलिये बालक के जन्म लेने पर माता पिता ने अपनी प्रसन्नता प्रकट करने के लिए सोने चाँदी से तुला-दान किया और देव-पूजन के साथ बड़े पैमाने पर ब्राह्मण-भोजन का आयोजन किया।

पिता का नाम था कर्शन जी लाल जी तिवारी। वे सामवेदी औदीच्य ब्राह्मण थे। कुल परम्परा के अनुसार बालक के दो नाम रखे गये—मूलशंकर और दयाराम, जो लाड प्यार के सम्बधोन के अनुसार मूल जी और दयाल जी कहलाये।

कौन जानता है कि यही बालक आगे चलकर महर्षि दयानन्द सरस्वती के नाम से वेद का और मानव जाति का उद्घारक बनेगा।

बालक मूलशंकर माता-पिता के प्रथम पुत्र थे। उनका हृदय प्रसन्नता से प्लावित रहता था। वे उसे वंश-बेल को चलाने वाला वृद्धावस्था में उनकी नैया को खेने वाला और कुल को चमकाने वाला समझ कर मन ही मन हर्ष विभोर रहते थे। उन्हें पता न था कि बालक उनका नहीं अपितु ईश्वर का वरद पुत्र था जो न केवल गुजरात प्रान्त को, भारतवर्ष को ही नहीं अपितु समरत् विश्व को चमकाने वाला बनेगा। उनके नाम को चमकाकर उन्हें अमर बनायेगा। माता-पिता और परिवार के लोगों को उनसे आशा थी कि वह दुनियादारी की उनकी सभी आकांक्षाओं एवं महत्वाकांक्षाओं को पूरा करेगा। परन्तु विश्वात्मा को उससे अपना ही काम लेना था।

माता-पिता को यह पता भी न था कि यह बालक भगवान् राम, योगिराज कृष्ण, महात्मा बुद्ध, आचार्य शंकर आदि महापुरुषों एवं सन्तों की परम्परा से सम्बद्ध है। जिसमें भगवान् राम की कर्तव्य परायणता एवं सदाचार निष्ठा, महात्मा कृष्ण की राजनीतिमत्ता, धर्म एवं न्याय-परायणता, महात्मा ईसा की परदुःखकातरता, (दीन-दुखियों, अपाहिजों और अनाथों के परित्राण) आदि आदि गुण मूर्तिमान् होंगे।

यही बालक आर्यत्व की रक्षा के लिए प्रातः स्मरणीय प्रताप, शिवा जी और गुरु गोविन्द सिंह का रूप धारण करेगा।

बालक मूलशंकर माता की प्रेममय गोद में पिता के प्यार पूर्ण हाथों में बंधु जनों के स्नेहविगति लालन-पालन में शुक्ल-पक्ष के चन्द्रमा की कला की भाँति दिनों दिन बढ़ने लगा।

पांच वर्ष की आयु में पिता ने बालक की गोद में बिठाकर अक्षर-ज्ञान कराया, बारहखड़ी सिखाई और गुजराती के साथ देवनागरी के अक्षरों में परिचय कराया।

जन्म-स्थान टंकारा

जिस काल में टंकारा में बालक मूलशंकर का जन्म हुआ उस समय टंकारा बड़ौदा के सेठ गोपाल मघोल नारायण के अधिकार में था। जिनके पास मौरवी नरेश ने इस कस्बे को गिरवी रखा हुआ था। जिनके पास मौरवी नरेश ने इस कस्बे को गिरवी रखा हुआ था। यह सेठ शिव के परम भक्त थे। टंकारा तालुका लगभग ३० वर्ष तक इन सेठ के अधिकार में रहा। फलतः उस इलाके में शैवमत ने पूर्णतः पैर जमा लिये थे।

उस समय टंकारा का वातावरण विविध मतों के अन्धकार से आच्छादि था। लोग वेदों, उपनिषदों आदि धर्मशास्त्रों को भूल गये थे। ब्राह्मण लोग गंगालहरी और गोपालसहस्रनाम आदि पुस्तकों को पढ़ते थे। शैवमत के साथ-साथ वल्लभाचार्य का वैष्णव मत और स्वामी नारायण मत भी गुजरात में काफी जड़ जमाए हुए थे।

ब्राह्मण लोग और राजकर्मचारी शिव की पूजा करते थे। महाजन, भाटिया आदि वल्लभ के अनुयायी थे। कुंभी तथा अन्य निम्न वर्ग स्वामी नारायण मत के अनुयायी थे। गोंसाईयों ने चरित्रहीनता से तमाम गुजरात में नैतिकता के बंधन ढीले कर रखे थे। स्वामी नारायण मत के महन्तों के लोभ तथा धन लिप्सा ने लोगों को क्षुद्र-मना बना दिया था। यावद राजपूतों में व्याप्त एक कन्या-वध की अमानवीय दुष्प्रथा ने तमाम गुजरात प्रान्त को बदनाम कर रखा था।

स्वामी दयानन्द के जन्म के समय काठियावाड़ और टंकारा का कर्सा इसी प्रकार के राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक वातावरण से ओतप्रोत था। इसके अलावा प्रकृति की अनेक देन भी टंकारा को प्राप्त थीं। गिरनार पर्वत, उसकी घाटियों और चोटियों के, काठियावाड़ के पैरों का

प्रक्षालन करने वाले समुद्र की गंभीरता एवं गरज के और प्रकृति के विशुद्ध सुन्दर एवं शक्तिशाली तत्त्वों की कमनीयता के कुछ अंश बालक मूलशंकर के शरीर आत्मा और अन्तःप्रेरणा में घर किये हुए देख पड़ते थे।

टंकारा उस समय व्यापार का अच्छा केन्द्र था। प्रातःकाल जब पनघट से पानी भर कर औरतें गलियों से गुजरतीं तो सुन्दर दृश्य होता। वहां जैनियों और मुसलमानों के साथ शैवों और वैष्णवों के भी काफी घर थे। कर्शनं जी लाल जी तिवारी ब्राह्मणों के मुखिया माने जाते थे।

शिक्षा

माता के वात्सल्य, पिता के अनुशासन-पूर्ण प्रेम तथा बन्धु-जनों के स्नेह की छाया में बालक शिक्षा में शुक्लपक्ष के चन्द्र की कलाओं के समान धीरे-धीरे विकास को प्राप्त होता गया। वृद्ध जनों ने कुलाचार और कुल-रीति सिखाई और विद्यानुरागी वृद्ध जनों ने बहुत से स्तोत्र, मंत्र, श्लोक और उनकी टीकाएं कंठस्थ करा दीं। बालक मेधावी था और उसकी स्मरण-शक्ति बहुत अच्छी थी। जो भी कुछ उसे सिखाया जाता, उसे वह बहुत शीघ्र ग्रहण कर लेता

था। धीरे-धीरे बालक में स्वयं विद्या के प्रति अनुराग पैदा हो गया। प्रातःकाल अन्य कार्यों से निवृत्त होने के पश्चात् वह नियमित रूप से पढ़ने और लिखने का अभ्यास करते। वह एकान्त में बैठ कर घर में उपलब्ध धार्मिक पुस्तकों को पढ़ने का प्रयत्न करता और अपनी बाल-बुद्धि के अनुसार उनको समझाने का भी प्रयत्न करता।

आठ वर्ष की आयु में उपनयन संस्कार हुआ। उस समय अनेक वेदज्ञ ब्राह्मणों ने यज्ञ और वेद-पाठ किया। महिलाओं ने मंगल गान करते हुए बालक की झोली में भिक्षा डाली। सब ब्राह्मणों को अच्छी दक्षिणा दी गई। बालक को गायत्री-मन्त्र का और सदाचार उपदेश दिया गया।

पिता बालक को अपने समान ही धर्मनिष्ठ और शिवभक्त बनाना चाहते थे। इसलिए अल्प वय में ही बालक को सन्ध्या-उपासना की विधि सिखाकर रुद्राध्यायी तथा शुक्ल यजुर्वेद कण्ठरथ करा दिया। शेष वेदों के भी चुने हुए अंश कण्ठरथ करा दिए। साथ ही शिव का माहात्म्य बता कर शिव की पूजा करना भी सिखा दिया। अपनी सहज तीक्ष्ण बुद्धि के कारण बालक विद्यार्जन में क्षिप्रगति से आगे बढ़ने लगा।

शिवरात्रि व्रत और बोध

नगर से बाहर नदी के तट पर एक विशाल शिवमन्दिर था। जिस में हर शिवरात्रि को विशाल जन-समुदाय एकत्र होकर पूजा किया करता था। जब बालक मूलशंकर ने चौदहवें वर्ष में प्रवेश किया तो पिता ने शिव-चतुर्दशी का व्रत ग्रहण करने का आदेश दिया। व्रत-ग्रहण और उपवास कष्ट-साध्य कार्य है, इसलिए माता ने तथा अन्य बन्धु-बान्धवों ने उसका विरोध किया। पर पिता नहीं चाहते थे कि उपनयन संस्कार के पश्चात् धार्मिक कार्यों के अनुष्ठान में किसी भी प्रकार की ढील की जाए।

बालक ने भी उत्साह में आकर पिता से व्रत का सब विधि-विधान पूछा। पिता ने बताया कि रात को चार पहर तक जगाते हुए चार बार पूजा करने से शिव जी ख्यां आकर दर्शन देंगे। बालक साक्षात् शिव का दर्शन करने की लालसा से सब कष्ट सहन करने को तैयार हो गया।

वही नदी-तट का शिव-मन्दिर। शिव के भक्तों की भीड़। रात का आलम। धीरे-धीरे अन्धकार बढ़ता गया, रात गहराती गई और भक्तजन एक-एक करके नींद की गोद में गिरते चले गये।

बालक मूलशंकर ने दिन-भर उपवास रखा था और सायं-काल होते ही पिता के साथ वह भी शिव-मन्दिर में आ गया था। रात की बारीकी बढ़ने के साथ जब भक्तों पर नींद ने हमला कर दिया, तब भी बालक जागता रहा।

प्रथम प्रहर में दूध के द्वारा, द्वितीय प्रहर में दही के द्वारा, तृतीय प्रहर में घृत के द्वारा और चतुर्थ प्रहर में मधु के द्वारा शिवलिंग के अभिषेक और अर्ध्यदन का विधान है। दूसरे प्रहर की पूजा विधिपूर्वक सम्पन्न करने के पश्चात् मन्दिर के पुजारी तथा व्रतधारी अन्य ग्रहस्थ भी मन्दिर के बाहर जाकर सो गए। मूलशंकर के पिता भी नींद के वशीभूत हो गए। पर चौदह वर्ष की कोमल वय के बालक मूलशंकर की आंखों में नींद कहाँ। उसने तो सुन रखा था कि व्रतधारी के लिए शिवरात्रि में सोना और व्रतभंग करना महापाप है। जब निद्रा का वेग अवसन्न करने लगता तो बालक अपनी आंखें पर जल के छींटे दे-देकर प्रयत्न-पूर्वक जागता रहा। बालक मूलशंकर निरन्तर जागता ही रहा।

मन्दिर के अन्दर निस्तब्धता, मन्दिर के बाहर निस्तब्धता। देश के अशान्त वातावरण के प्रतीक घोर तिमिरावरण

को वह महानिस्तब्धता जब मानव मन को आतंकित कर रही थी, तब चौदह वर्ष के बालक के मन में अकरमात् उठे एक अभिनव प्रश्न ने अंधकार के उस आवरण में दरार पैदा कर दी।

घटनों यों घटी। जब बालक मूलशंकर इस प्रकार अकेला जाग रहा था और शिव-दर्शन की लालसा से बिना पलक झपकाए एकटक शिवलिंग की ओर देख रहा था, तब कई चूहे बाहर निकल कर महादेव की पिण्डि पर उछल-कूद करने लगे और शिव जी के सिर पर चढ़कर चावल तथा अन्य नैवेद्य खाने लगे।

बालक के मन में प्रश्न पैदा हुआ—दिन में शिव-पुराण की पुण्य-कथा में सुन था कि शिव जी त्रिपुरारि हैं, त्रिशूलधारी हैं और दुर्दान्त-दैत्य- दलनकारी देवाधिदेव महादेव हैं तो वे इतने अशक्त क्यों हो गए कि अपने सिर पर चढ़ कर धृष्टतापूर्वक नैवेद्य उड़ा जाने वाले इस मूषकों को भी प्रताड़ित नहीं कर सकते?

घटना नई नहीं थी, पर यह प्रश्न नया था। सैकड़ों सालों से इसी प्रकार शिवलिंग पर चढ़ कर चूहे उत्पात करते और भोग-सामग्री का स्वयं भोग लगाते चले आ रहे थे,

परन्तु अब तक किसी शिव-भक्त के मन में यह प्रश्न नहीं उठा था। इस अभिनव प्रश्न में मानव-जाति के जागरण का मूलमन्त्र छिपा था।

आखिर समस्त संसार का ज्ञान-विज्ञान क्या है? कुछ प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयत्न ही तो है। मानव का जिज्ञासु मन कुछ प्रश्न पूछता है और मानव की बुद्धि उन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न करती है। प्रश्न और उत्तर की इस क्रमिक आवृत्ति से ही ज्ञान-विज्ञान से बन्द द्वार खुलते जाते हैं।

पर कोई नया प्रश्न करे तो ?

उस शिवरात्रि के दिन बालक मूलशंकर के मन में उठे इस प्रश्न ने मानव के लिए जड़ता से हटकर चेतनता की ओर जाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

बालक ने अपने सोते हुए पिता को जगाया और उन से यही प्रश्न किया—“जो महादेव प्रबल प्रतापी प्रसिद्ध हैं वे अपने सिर से इन थोड़े से उच्छृङ्खल चूहों को हटाने में समर्थ क्यों नहीं हुए?”

कर्शन जी इस अनोखे प्रश्न को सुनकर किंकर्तव्यविमूढ़

हो गए। पहले बालक को धमकाया। फिर समझाया—“यह तो देवता नहीं, देवता की मूर्ति है।” पर सत्य के पिपासु को सत्य की प्रतिमूर्ति नहीं, शुद्ध सत्य चाहिए।

बालक ने कहा—“फिर मुझे देवता के दर्शन कब होंगे ?”

पिता ने गम्भीरता से कहा—“पुत्र ! इस कलिकाल में महादेव के साक्षात् दर्शन नहीं होते, इसलिए उस कैलाशवासी शिव की मूर्ति बनाकर प्राण-प्रतिष्ठापूर्वक उसका पूजन किया जाता है। इसी मूर्ति का श्रद्धापूर्वक पूजन करने से महादेव प्रसन्न होते हैं और अन्त में भक्त को दर्शन भी देते हैं।”

कलिकाल में महादेव दर्शन नहीं देते और पूजन करने वाले भक्तों को दर्शन देते भी हैं—यह परस्पर विरोधी बात बालक को सन्तुष्ट नहीं कर सकी। बालक ने उसी क्षण मन में यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि जब तक अप्रतिम शक्तिशाली त्रिशूलधारी यथार्थ शिव का दर्शन नहीं कर लूँगा, तब तक किसी भी प्रकार जड़ पाषाण की पूजा नहीं करूँगा।

पिता ने देखा कि शैव-धर्म की दीक्षा और उसके निमित्त व्रत का पालन तो दूर की बात है, पुत्र के मन में मूल वस्तु के प्रति ही अविश्वास उत्पन्न हो गया है, इसलिए अब इसे अधिक देर तक मन्दिर में रखना व्यर्थ है।

रात्रि के तीसरे पहर के अन्धकार में तीन मील दूर घर तक पहुंचाने के लिए पिता ने मूलशंकर के साथ एक सिपाही को कर दिया और साथ ही यह ताकीद कर दी कि घर जाकर भी व्रत भंग मत करना।

शिवरात्रि का व्रत धारण करने वाले पुत्र को सिपाही के साथ माता ने शिवमन्दिर से वापस आया देखा तो ममतापूर्वक बोली—“मैंने तो पहले ही कहा था कि उपवास का यह कष्ट तुझसे नहीं सहा जाएगा।”

माता ने समझा कि उपवास की पीड़ा असह्य हो जाने के कारण ही बालक घर आ गया है। मूलशंकर के मन में जो विचारों की क्रान्ति हो गयी थी और अज्ञानान्धकार को चीरती हुई नई दिव्य ज्योति की किरण फूट पड़ी थी, उससे वह बेचारी बेखबर थी। उसने प्रेम से मूल जी को अपने पास बिठाया और मिष्ठान्न आदि खाद्य पदार्थ लाकर सामने रख दिए। मूल जी भोजन करने लगे तो माँ ने पास बैठकर,

अपने पति के स्वभाव को जानते हुए, मूल जी से कहा—“अब दो दिन तक तुम अपने पिता के सामने मत पड़ना, नहीं तो वे तुम्हारी ताड़ना करेंगे।”

बालक भोजन करके निश्चिन्त होकर सो गया।

कर्शन जी सूर्योदय के पश्चात् घर पहुँचे। जब उन्हें पता लगा कि पुत्र ने भोजन करके व्रत भंग कर दिया है, तो उन्हें क्रोध आया और उन्होंने बार-बार मूल जी से कहा—“तूने व्रत भंग करके महापाप किया है। अब शिव जी तुझ पर प्रसन्न नहीं होंगे।” पिता अपने विश्वास पर अटल थे। उधर बालक भी अपने विश्वास पर अटल था कि जब पाषाण की मूर्ति असली शिव नहीं हैं, तब उस की पूजा या उसके निमित्त उपवास का भी कोई अर्थ नहीं है।

धर्मनिष्ठ पिता ने अपने पुत्र के व्रतभंग के प्रायश्चित्तस्वरूप ब्राह्मण-भोज कराया और पुराणों की कथा कराई। उसके बाद बालक को अधिक से अधिक विद्या-ग्रहण करने में समर्थ बनाने के लिए ज्योतिष, व्याकरण, छन्द, निरुक्त आदि सिखाने के लिए अलग-अलग पण्डित नियुक्त कर दिए। किशोर मूलशंकर ने भी विद्याग्रहण में अपना मन लगाया।

बहिन एवं चाचा की मृत्यु और वैराग्य

लगभग ५ वर्ष बाद मूल जी के जीवन में एक और घटना घटी, जिस ने उसके मन को पुनः आंदोलित कर दिया।

एक दिन रात के समय मूल जी अपने अन्य परिवारिक जनों के साथ पड़ोस में कोई लोकरंजनकारी कार्यक्रम देख रहे थे कि सेवक ने हाँफते हुए आकर सूचना दी कि तुम्हारी छोटी बहिन अचानक सांघातिक रोग से ग्रस्त हो गई है।

रोगी बहन को चिकित्सा के लिए सभी उपाय किए गए। सारा परिवार उसकी सेवा-शुश्रूसा में लग गया परन्तु दो घण्टे के अन्दर वह कराल-काल का ग्रास बन गई।

सारा परिवार शोकमग्न हो गया। माता-पिता तथा अन्य निकट सम्बन्धियों की आंखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी। जब स्वजन और बन्धु-बान्धव करुण-कन्दन कर रहे थे, तब किशोरावस्था की देहली को पार करता हुआ मूलशंकर जड़वत् दीवार से लगा खड़ा था। जीवन में यह उसका प्रथम मृत्युदर्शन था। शोक के प्रबल आघात ने उसे इतना स्तब्ध कर दिया कि उसकी आंखों से आंसू की बूँद

तक नहीं निकली, पर हृदय में ज्वारभाटे की सी उथल पुथल प्रारम्भ हो गई।

उसने सोचा, क्या पृथ्वी पर सब को इसी तरह एक न एक दिन मरना है ? मैं भी मरूंगा ? क्या ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे मृत्यु की इस विभीषिका से और आवागमन के चक्कर से छुटकारा मिल सके ? उसने वहीं खड़े-खड़े संकल्प किया कि मैं मृत्यु कलेश से मुक्ति का उपाय खोज कर छोड़ूँगा, इसके लिए चाहे मुझे कितनी ही कठिनाइयों का सामना क्यों न करना पड़े।

कुछ ही दिनों बाद मूलशंकर के चाचा का भी देहावसान हो गया। चाचा बहुत सज्जन, अच्छे विद्याव्यसनी पण्डित और मूल जी से अत्यन्त स्नेह करने वाले थे। मूल जी ने सोचा संसार की सारी वस्तुएं जब इतनी अस्थिर और नाशवान् हैं, कमल के पत्ते पर पड़ी पानी की बूँद के समान चंचल हैं, तब सामान्य सांसारिक जनों की तरह शरीरधारण का प्रयोजन ही क्या है ?

शोक के इस दूसरे आघात ने मूल जी के मन में जहां वैराग्य की भावना को दृढ़ कर दिया, वहां मानसिक संकल्प को भी दृढ़ कर दिया।

जिस तरह कपिलवस्तु के राजकुमार सिद्धार्थ एक अशक्त रोगी को, बुढ़ापे के कारण जर्जरित काय वाले एक वृद्ध को और श्मशान-यात्रा के लिए ले जाए जाते एक शव को देखकर संसार से इतने विरक्त हो गए कि राजपाट और स्त्री और पुत्र के मोह को छोड़कर गृहत्याग करके निर्वाण मार्ग की खोज में चल दिए। ठीक उसी प्रकार सद्यः यौवनारुद्ध मूलशंकर के मन में भी सांसारिक सम्बन्धों के स्नेह-पाश को तोड़कर गृह-त्याग की बात घर करती ही चली गई।

मूलशंकर ने अपने मन का भाव किसी पर प्रकट नहीं होने दिया। पर उनके हाव भाव और बोलचाल में यह वृत्ति प्रकट हुए बिना कैसे रह सकती थी। एक दिन अपनी मित्र-मण्डली में जब उन्होंने संसार की असारता और मुक्ति-पद की जिज्ञासा की चर्चा की तो उनके माता-पिता को भी यह बात पता लग गई।

वैराग्यवान् वीरों को सांसारिक बन्धन में बांधने के लिए विवाह को सर्वोत्तम साधन समझा जाता है। इतिहास में इस प्रकार के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। विवाह हुआ और मोह-माया-ममता ने उस व्यक्ति को जकड़ लिया। मूलशंकर के माता-पिता ने भी वही परम्परागत ब्रह्मास्त्र आजमाने का निश्चय किया।

मूलशंकर बीसवें वर्ष में प्रवेश कर रहे थे। मोहाच्छन्न व्यक्ति यह नहीं समझ सकते कि सच्चे वैराग्य की भावना को विवाह का प्रलोभन नहीं मिटा सकता। विवाह का कालकूट अन्य सब स्थानों पर कारगार हो सकता है, वैराग्य की मृत्युंजयी शक्ति के सामने वह भी व्यर्थ हो जाता है।

मूलशंकर ने गृह-त्याग का सुयोग पाने के लिए अपने पिता ने कहा : 'मुझे विद्या पढ़ने के लिए काशी भेज दीजिए।' कर्शन जी जानते थे कि मूल जी के मन में वैराग्य की अग्निशिखा प्रदीप्त हो चुकी है, इसलिए वह गृह-त्याग का अवसर ढूँढ रहा है। उन्होंने पुत्र से कहा। 'जितनी विद्या तुम पढ़ चुके हो, उतनी ही बहुत है। अधिक पढ़ कर क्या करोगे। तुम यही हमारा करोबार देखो। अभी हम तुम्हारी सगाई कर देते हैं और वर्ष की समाप्ति तक तुम्हारा विवाह कर देंगे। हम तुम्हें काशी नहीं भेजेंगे।'

मूल जी चिन्ताग्रस्त हो गए। उन्होंने अपने पिता से कहा—'यदि आप काशी नहीं भेजते तो अमुक ग्राम में एक सुयोग्य पण्डित रहते हैं, मुझे वहीं जाकर पढ़ने की अनुमति दे दीजिए।'

इस पर पिता सहमत हो गए।

गृह-त्याग

इधर मूल जी ने अपने मित्रों के सामने अपने हृदय का यह सर्वोपरि संकल्प व्यक्त किया, मेरी विवाह करने की इच्छा बिल्कुल नहीं है, इसलिए अभी वाग्‌दान न किया जाए। जब किसी सूत्र से कर्शन जी को यह बात पता लगी, तब उन्होंने तुरन्त मूल जी को अपने पास बुलाया और गम्भीर होकर कहा : 'यह मैं क्या सुन रहा हूँ ?'

मूल जी ने कहा : 'जो कुछ आप सुन रहे हैं, ठीक ही सुन रहे हैं। मैं विवाह नहीं करूंगा।'

कर्शन जी अपने पुत्र की और सब बातें सुन सकते थे, पर विवाह न करने की बात नहीं सुन सकते थे। यह बात उनके लिए असह्य थी। उधर माता ने अपने पुत्र का जब यह निश्चय सुना, तब उसने भी शोकाकुल होकर अपना सिर पीट लिया।

मूल जी ने शान्त भाव से अपने माता-पिता से कहा—'मैं विवाह नहीं करूंगा। मेरा एक और भाई है। आप लोग उसका विवाह करके उससे वंश चलाने की आशा रखिएं घर में रहना मेरे लिए कठिन है। मैं तो योगियों की खोज करके योगाभ्यास करूंगा।'

मूल जी के गुरु ने कर्शन जी से कहा—‘आप लोग लड़के पर कड़ी निगरानी रखें। धीरे-धीरे इसकी बुद्धि ठिकाने आ जाएगी।’

कर्शन जी ने मूलशंकर की निगरानी रखने के लिए एक रक्षक नियुक्त कर दिया।

माता ने मूलशंकर के मन को पिघलाने के लिए, जिस लड़की से विवाह की चर्चा चल रही थी, उसे और उसकी मां दोनों को मूल जी के सम्मुख बुलवा लिया। उन्होंने मूल जी को कुछ आभूषण उपहार में दिए। मूल जी ने अपने आभूषण वापस करते हुए कहा—‘आप लोग मेरे जीवन की साधना में बाधा मत डालिए, बल्कि मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मेरा जीवन-ब्रत पूरा हो।

कर्शन जी के घर में विवाह की तैयारियां और जोर-शोर से प्रारम्भ हो गईं। उसी प्रबल आवेग से मूलशंकर का मन गृहत्याग के लिए उद्विग्न रहने लगा। इस समय मूल जी बाईसवें वर्ष में प्रवेश कर रहे थे। तीन वर्ष पहले मूल जी के मन में जो वैराग्य-वृद्धि धूम्रमाला के रूप में अवतीर्ण हुई थी, अब वह प्रचण्ड ज्वाला के रूप में फूट पड़ी।

मूलशंकर ने सन् १८४७ में, विवाहोत्सव की तैयारियों में मग्न धन-धान्यपूर्ण गृह को, माता-पिता के पूर्ण प्रेम को, स्वजन सम्बन्धियों के सरस स्नेह को और सब से बढ़कर उद्घाम यौवन के सम्मुख खड़े विकसित वसन्त को तिलांजलि दे दी। रात्रि के उस सुनसान प्रथम पहर में गृहत्याग करते हुए उसके मन में क्या भाव उठ रहे होंगे, इसे या तो दयानन्द की आत्मा जाने, या परमात्मा जाने।

मूलशंकर ने पहली रात्रि टंकारा से कोई ६ कोस की दूरी पर व्यतीत की। रात का एक पहर बाकी बचा था कि फिर अगली यात्रा के लिए सन्नद्ध हो गए और सायंकाल होने से पहले २० मील दूर पहुंच कर एक ग्राम में विश्राम किया।

उधर जब माता-पिता को पता चला कि मूल जी घर छोड़कर अचानक कहीं चले गए तो उन पर जैसे वज्रपात हो गया। विवाह सम्बन्धी सारा ठाठ-बाठ गहरी उदासी में बदल गया। चारों ओर खोज के लिए सिपाही दौड़ाए गए।

मार्ग में किसी राजपुरुष से पता लगा कि कर्शन जी के पुत्र की खोज में प्यादे यहां तक आए थे, तब जिन ग्रामों में पेहचाने जाने की आशंका थी, उनसे बच कर अप्रचलित रास्तों से चलते हुए मूलशंकर ने अपनी यात्रा जारी रखी।

ब्रह्मचर्य व्रत दीक्षा

मार्ग में वैरागियों की एक टोली मिली। मूलशंकर के रेशमी वस्त्रों को और हाथों की अंगूठियों को देखकर वे मजाक करते हुए कहने लगे—देखो त्यागी बनने चला है, पर जेवरों का और रेशमी वस्त्रों का मोह तो छूटता नहीं फिर मूलशंकर से बोले : ‘मूर्ति पर यदि आभूषण चढ़ा दोगे तो तुम्हें दो लाभ होंगे—देवता की आराधना से पुण्य की प्राप्ति और सर्वस्व त्याग से वैराग्य की सिद्धि।’

उन कपट वेशधारी वैरागियों को अपनी अंगूठियां तथा अन्य आभूषण सौंपकर मूलशंकर अपनी यात्रा पर आगे बढ़ गए।

मूल जी ने अनेक लोगों से सुना कि शैला ग्राम में एक लाला भक्त नाम का योगी रहता है। वहां और भी बहुत से साधु-महात्मा रहते हैं शायद यहां मन की इच्छा पूरी हो और कोई सच्चा योगी मिल जाए, यह सोच मूल जी वहां पहुंच गए। लाला भक्त से उन्होंने योगाभ्यास सिखाने की प्रार्थना की।

मठ में उनका परिचय एक ब्रह्मचारी से हुआ। उसने

उनको नैष्ठिक ब्रह्मचारी बन जाने की सलाह दी। मूल जी इससे सहमत हो गए। उसने मूल जी को ब्रह्मचर्याश्रम की दीक्षा देकर उनका नाम शुद्ध चैतन्य रख दिया। अब ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य योग विद्या का पक्का जिज्ञासु बन गया। जहां से भी योग विद्या का अर्थ मिलता उसको तत्परता से ग्रहण करने का सदा उत्सुक रहने लगा।

शैला के मठ में रहकर शुद्ध चैतन्य ३ मास तक योगाभ्यास करते रहे। वहां अनेक साधु -महात्माओं के साथ भी उनका सत्संग चलता रहा। परन्तु आश्रम के निवासियों का सांसारिक वस्तुओं के प्रति मोह देख कर शुद्ध चैतन्य को यहां से विरिक्त हो गई।

सिद्धपुर मेला : वैरागी से भेंट

शुद्ध चैतन्य ने सुना कि कार्तिक में सिद्धपुर का जबर्दस्त मेला होने वाला है। शायद वहीं किसी सिद्ध महात्मा के दर्शन हो जाएं। शुद्ध चैतन्य सिद्धपुर की ओर चल दिए।

एक वैरागी से भेंट हुई जो टंकारा के पास ही किसी ग्राम का निवासी था और शुद्ध चैतन्य तथा उनके परिवार

से अच्छी तरह परिचित था। दोनों ही एक दूसरे को देखकर विस्मित हुए। चिरकाल के पश्चात् सुपरिचित स्नेही व्यक्ति को देखकर दोनों ही भाव-विभोर हो गए। उस वैरागी ने शुद्ध चैतन्य के गृहत्याग का और ब्रह्मचर्य वेष-धारण का कारण पूछा। शुद्ध चैतन्य ने निष्कपट भाव से सारी कथा कह सुनाई।

वैरागी ने शुद्धचैतन्य के गृहत्याग की और काषाय वस्त्र धारण की आलोचना की। फिर पूछा—“क्या अब तुम घर नहीं जाओगे ?”

‘नहीं, मैंने सदा के लिए घर छोड़ दिया है। अब मैं साधु-महात्माओं की खोज में सिद्धपुर जा रहा हूं।’ यह कहकर शुद्ध चैतन्य उस वैरागी से अलग हो गए।

उस वैरागी ने, जो अच्छी तरह जानता था कि जवान बेटे के घर से निकल जाने से उसके माता-पिता कितने परेशान होते हैं। एक पत्र द्वारा सारी कथा कर्शन जी को लिख दी और यह भी लिख दिया कि इस समय मूल जी ब्रह्मचारी के वेष में सिद्धपुर के मेले में गए हैं।

पिता से अन्तिम भेंट

पिता चार सिपाहियों को साथ लेकर सिद्धपुर पहुंच गए और मेले में घूम-घूम कर मूल जी की खोज करने लगे।

एक दिन सवेरे कर्शन जी अकस्मात् एक शिवालय में पहुंचे। काषाय वस्त्रधारी पुत्र को साधुओं के घेरे में बैठे देखा। सिपाहियों समेत कर्शन जी मूल जी के सामने जाकर खड़े हो गए और अपने पुत्र को भला-बुरा कहने लगे।

शुद्धचैतन्य ने वक्त की नजाकत को समझा और आसन से उठ कर पिता के दोनों चरण पकड़ लिए। विनयपूर्वक कहा : 'मुझ से भूल हुई। मैं धूर्त लोगों को बहकाने से गृहत्याग कर बैठा। मैंने बहुत दुःख उठाएं हैं। मेरी गलती क्षमा कर दीजिए। मैं तो यहां से स्वयं ही घर आने की सोच रहा था। अच्छा हुआ, जो आप आ गए। अब आप जैसा आदेश देंगे वैसा ही करूंगा।'

मूल जी के इस व्यवहार से पिता के क्रोध पर छीटे तो कुछ पड़े, पर उनका क्रोध पूरी तरह शान्त नहीं हुआ। उन्होंने शुद्धचैतन्य का भगवा चोला फाड़ दिया, उनके

स्थान पर श्वेत वस्त्र पहनाए और अपने डेरे पर ले जाकर कहा—‘तेरे वियोग के कारण तेरी माता रो रोकर अधमरी हो गई है और तू ऐसा कठोर हृदय है कि मातृहत्या करने की उतारू है।’ पुत्र ने अनुनयपूर्वक कहा—‘अब आप निश्चिन्तपूर्वक हो जाइए मैं आपके संग चलकर माता जी के दर्शन करूँगा।’

पर कर्शन जी निश्चिन्त नहीं हुए। पुत्र पर कड़ा पहरा लगा दिया और सिपाहियों से कहा—‘इसे एक क्षण के लिए भी अकेला मत छोड़ना, न इसे अकेले कहीं जाने देना।’

इस प्रकार पिता के कारागार में पड़े-पड़े दो दिन और दो रातें बीत गईं। ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य लगातार इस ताक में रहे कि मौका मिलते ही इस बंधन से निकल भागें। उधर पिता को आश्वस्त भी करते रहे। तीसरा दिन भी ज्योंत्यों करके बीता। तीसरी रात आई। शुद्धचैतन्य के लिए एक एक पल भारी हो रहा था। बिस्तर पर लेटे हुए अवश्य थे और देखने वालों को सोते हुए, दिखाई देते थे, पर शुद्धचैतन्य निरंतर चैतन्य, बाहर से सोए, भीतर से जागते हुए।

तीसरी रात्रि का भी आधा भाग बीत गया। पहरेदार ऊंधने लगे। धीरे-धीरे पहरेदार गाढ़ी निद्रा में मग्न हो गए। तब शुद्धचैतन्य को लगा कि अब अनुकूल अवसर आया है। हाथ में जल से भरा एक लोटा लिया, जिससे पकड़े जाने पर शौच जाने का बहाना बनाया जा सके, और वे पिता के बंधन से निकल कर भागते चले गए। जब सिद्धपुर से आधा कोस निकल आए तो एक बाग के पुराने मंदिर के पास वटवृक्ष की जटाओं से सहारे चढ़ कर मंदिर के गुम्बद के पीछे छिपकर बैठ गए।

इधर जब पहरेदारों को और कर्शन जी को पता लगा कि पंछी पिंजरे में से निकल गया तो उनके हाथों के तोते उड़ गये। फिर हलचल मची, चारों ओर खोज हुई। जहां शुद्धचैतन्य छिपे बैठे थे, उस बाग में भी ढूँढने वाले पहुंचे। पर शुद्धचैतन्य बिना हिले-डुले सांस साधे ऐसे छिपकर बैठे रहे कि उन्हें कोई नहीं देख पाया। ढूँढने वाले निराश होकर वापस चले गए। शुद्धचैतन्य अगले दिन भी दिन भर वहीं भूखे-प्यारे छिपे बैठे रहे। जब सूर्यास्त हो गया तब वहां से उतरे और अपनी मंजिल पर आगे बढ़ लिए।

सिद्धपुर के मेले में हुई यह भेट पिता और पुत्र की अन्तिम भेट थी।

संन्यास : योगियों की खोज

कहां है मंजिल ?

जिस तरह कर्मयोग के साक्षात् आदर्श स्वरूप मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम दण्डकारण्य में विचरते हुए दूर या समीप जहां कहीं किसी ऋषि-मुनि का आश्रम सुनते, सत्संग की इच्छा से वहीं पहुंच जाते। उसी प्रकार अमर जीवन का जिज्ञासु ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य भी योगी महात्माओं की खोज में न जाने कहां-कहां भटका। अहमदाबाद गया, बड़ौदा गया। फिर नगरों से निराश होकर वह चाणोद कर्णाली पहुंच गया।

वहां कई विद्वान् संन्यासियों से और सुयोग्य ब्रह्मचारियों से भेट हुई।

शुद्धचैतन्य ने निर्द्वन्द्व होकर विचरने और अपना पूरा समय विद्याध्ययन में लगाने के लिए संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने का संकल्प किया। ब्रह्मचर्यावस्था में अपना भोजन स्वयं पकाया करते थे, जिस में काफी समय निकल जाता था। संन्यासी बन जाने से स्वयं पकाने का झंझट छूट जाता।

एक दाक्षिणात्य साधु के सामने उन्होंने संन्यासी बनने की इच्छा प्रकट की। वह साधु इस युवावरथा में शुद्धचैतन्य को संन्यास की दीक्षा देने को तैयार नहीं हुआ।

पर शुद्धचैतन्य निराश नहीं हुए।

इस बीच वे अनेक तीर्थों, मठों और आश्रमों में घूमते रहे।

कई मास बाद शुद्धचैतन्य का इस भ्रमण काल में ही दो विरक्त पुरुषों से सम्पर्क हुआ। इन में से एक ब्रह्मचारी था और दूसरा वृद्ध संन्यासी। इन दोनों के साथ शुद्धचैतन्य ने ब्रह्मविद्या सम्बन्धी चर्चा प्रारम्भ की। इस चर्चा से शुद्धचैतन्य समझ गए कि दोनों प्रगाढ़ पण्डित हैं। वे दोनों शंकराचार्य द्वारा संस्थापित दक्षित भारत के शृंगेरी मठ से द्वारिका की ओर जा रहे थे। वे भी शुद्धचैतन्य की जिज्ञासु वृत्ति, दृढ़ संकल्प और विनयशीलता से प्रभावित हुए। जब शुद्धचैतन्य ने संन्यासी बनने की इच्छा प्रकट की, तब पहले तो वे आनाकानी करते रहे, पर अन्त में सुयोग्य पात्र देखकर संन्यास की दीक्षा देने को तैयार हो गए।

अब शुद्धचैतन्य हो गए “दयानन्द सरस्वती”। हाथ में दण्ड और कमण्डल सुशोभित हो उठे। सत्य की खोज के

लिए आगे जो दुर्गम और कण्टकाकीर्ण मार्ग तय करना था उस की पूरी तैयारी हो गई।

सत्य की उपासना का मार्ग सचमुच बड़ा कठिन है। 'जो घर जारै आंपनो चलै हमारे साथ'—कबीर की यह उक्ति सत्यान्वेषी के लिए पूर्णतः चरितार्थ होती है। मूल जी घर बार पहले ही छोड़ चुके थे। अब अपने शरीर के प्रति भी ममत्व त्याग दिया।

स्वामी पूर्णानन्द ने चतुर्थ आश्रम की मर्यादा की रक्षा के लिए जिन नियमों और जप-तप आदि का उपदेश दिया उनका विधिवत् पालन करते रहे।

शिष्य दयानन्द कई दिन तक गुरुचरणों में बैठकर बड़ी विनम्रता से ब्रह्मविद्या के ग्रन्थ पढ़ते रहे। उन्होंने गुरु आदेश के अनुसार विद्या साधना में विज्ञकारी जानकर दण्ड का विसर्जन कर दिया। गुरु पूर्णानन्द जी कुछ दिन चाणोद में ठहरकर जब द्वारिका के लिये प्रस्थान करने लगे तो उनके नूतन शिष्य दयानन्द ने भक्तिभाव से गुरुचरणों में प्रणाम किया। दयानन्द पीछे चाणोद में ठहरकर विद्याध्ययन एवं साधना में तल्लीन रहे।

कभी एकान्त में ध्यान लगाते, योगाभ्यास करते। कभी किसी शास्त्र-विशेष के पण्डित की प्रसिद्धि सुनकर उसके पास जाकर उस शास्त्र का गहन अध्ययन करते। कभी किसी साधु के पास जाकर शंका-समाधान करते और कभी किसी तीर्थ-स्थान पर जाकर वहां अन्य साधुओं की गोष्ठियों में सम्मिलित होकर वेदान्त आदि शास्त्रों का पर्यालोचन करते। कभी किसी योग-विशारद के पास पहुंचकर योग विद्या का मर्म समझते और जटिल से जटिल यौगिक क्रियाएं सीखते।

स्वामी दयानन्द को विदित हुआ कि व्यासाश्रम में योगानन्द नामक एक महात्मा विराजमान है और वह योग की क्रियाओं में कुशल है। उस महात्मा के मिलाप की उत्सुकता से प्रेरित होकर वह व्यासाश्रम में जा पहुंचे। वहां उन्होंने उक्त महात्मा से योग विद्या के रहस्य सुने और योग की पुस्तकें भी अच्छी तरह पढ़ीं। योग की क्रियाओं की सीख लेने के बाद उन्होंने सुना कि छिन्नाडे में कृष्ण शास्त्री नामक एक धुरंधर वैयाकरण रहता है। वे व्याकरण के अध्ययन की लालसा से उस ग्राम में जा विराजे। कुछ काल तक कृष्ण शास्त्री जी से ग्रन्थ पढ़कर फिर चाणोद कर्णाली में पधारे और वहां एक राजगुरु से वेदाध्ययन करने लगे।

निरभिमानता की मूर्ति स्वामी दयानन्द को सत्य के जानने की इच्छा, योग विद्या की प्राप्ति की परम लगन, साधु सन्तों के शुभ दर्शनों और शान्तिदायक सत्संगों के लिए सदा उत्साहित करती रहती थी। नई-नई विद्याएं सीखने के लिये वे सदा उत्सुक रहते थे। किसी महात्मा के पास जाने में उन्हें कभी संकोच न होता था। प्रतीत होता है कि उन्होंने घर का परित्याग करते ही सब से पहले अहंकार के कांटे को हृदये की भूमि से उखाड़ फेंका था। मान का मर्दन कर दिया था। संकीर्णता बिल्कुल छोड़ दी थी। यह हो नहीं सकता था कि ऐसे श्रद्धालु जिज्ञासु की कामनाएं पूर्ण न हों।

दो योगियों से भेट : योगविद्या की प्राप्ति

चाणोद कर्णाली में ही स्वामी दयानन्द सरस्वती को दो और महात्माओं के दर्शन प्राप्त हुए। उनमें से एक का नाम ज्वालापुरी और दूसरे का नाम शिवानंद गिरि था। वे दोनों ही प्रसन्नचित्त और प्रशान्तात्मा थे। स्वामी दयानन्द जी अपना अहोभाग्य संमझकर लगे उनके मंगल-मिलाप का आनंद लूटने। योगी महात्माओं ने भी जान लिया कि—यह जिज्ञासु आत्मपिपासु है। इसलिए उसे अपने साथ मिला

कर अभ्यास शुरू कराया। अभ्यास के बाद तीनों मिलकर योग शास्त्र की चर्चा किया करते थे। कुछ काल के उपरान्त वे दोनों योगी अहमदाबाद चले गए और दयानन्द जी को आदेश कर गये कि एक मास के पश्चात् आप हमारे पास अहमदाबाद में आइएगा, उस समय हम आपको योग साधना के सम्पूर्ण गूढ़ तत्त्व क्रियाओं सहित भली भाँति समझा देंगे। वहां हमारा आसन नदी के किनारे दूधेश्वर महादेव के मंदिर में होगा।

स्वामी दयानन्द जी चाणोद में रहकर एक मास तक जप, तप, क्रियानुष्ठान करते रहे। फिर महात्माओं की आज्ञानुसार अहमदाबाद चले गये। सीधे दूधेश्वर के मन्दिर में जाकर उनके दर्शनों से कृतार्थ हुए। वहां उन सन्त शिरोमणियों की शुभ संगति में रात-दिन रहकर आत्म-तृष्णा की परितृप्ति में निगम्न रहते थे। प्रतिदिन के सहवास से योगीराज ने समझ लिया लिया कि स्वामी दयानन्द जी एक उत्तम कोटि के सुपात्र हैं। इन्हें योग तत्त्वों के अमूल्य रत्नों से आकष्ट भर देना चाहिये। उन्होंने योग का प्रत्येक भेद और रहरय स्वामी दयानन्द जी को बताया। उन योगियों की शुभ कामना से स्वामी जी को जो लाभ हुआ, उसका

उन्होंने अपनी आत्मकथा में कृतज्ञता के साथ इस प्रकार वर्णन किया। 'वहां उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और अपने कथानुसार मुझे निहाल कर दिया। उन्हीं महात्माओं के प्रभाव से मुझे क्रिया समेत पूर्ण योग विद्या भली भाँति विदित हो गयी। इसलिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूं। वास्तव में उन्होंने मुझ पर एक महान् उपकार किया। इस कारण मैं उनका विशेष रूप से अनुगृही हूं।'

परन्तु इतने भर से स्वामी दयानन्द सन्तुष्ट न थे और योग के विषय में अधिकाधिक जानने और सच्चे योगियों की खोज एवं उनके सत्संग से लाभ उठाने के लिए उत्सुक और प्रयत्नशील रहते थे।



अमरता की खोज

उत्तराखण्ड की यात्राएँ : १

कभी पता लगता कि जितनी योगविद्या अभी तक सीखी है और जैसे योगियों और महात्माओं का अभी एक सत्संग लाभ किया है, उनसे भी अधिक शक्ति-सम्पन्न और योगविद्या में निपुणतर योगी जन विद्यमान हैं। कोई कहता कि ऐसे योगी आबू पर्वत पर निवास करते हैं, कोई कहता— नर्मदा तट पर, और कोई कहता हिमालय के उत्तराखण्ड में।

दयानन्द एक मंजिल पार करता तो दूसरी मंजिल सामने दिखाई देती। जब दूसरी मंजिल पार करता तो उस से भी और आगे तीसरी मंजिल अपनी ओर आकर्षित करती।

कहां है आखिरी मंजिल ?

दयानन्द आबू गया। नर्मदा-तट का भी भ्रमण किया। और सात आठ साल तक लगातार भटकता रहा। पर मंजिल दूर सरकती गई अनन्त की ओर।

अन्त में उत्तराखण्ड की ओर संन्यासी के कदम बढ़ चले ।

जहां स्वामी जी ने सुन रखा था पर्वतराज हिमालय ने बड़े-बूढ़े योगियों, तपस्त्रियों विरक्त और साधु सन्तों को अपनी गोद में छुपाया हुआ है जिनके आत्मिक प्रकाश से हिमालय की धाटियां और पर्वत शिखर प्रकाशमान हैं । उन्हें खोजा ही जा सकता है बहुमूल्य मणियों की भाँति । यद्यपि यह यात्रा भय और खतरों से परिपूर्ण और परिश्रम साध्य थी तथापि स्वामी दयानन्द जैसे दृढ़ निश्चयी व्यक्ति को सुगम देख पड़ती थी । अतः वह खतरों और भय की परवाह किये बिना बढ़ते चले गये और हरिद्वार पहुंच गये ।

हरिद्वार है उत्तराखण्ड का प्रवेशद्वार । यहीं पर लगता है कुम्भ का मेला जिसमें लाखों नर-नारी शामिल होते हैं । साधुओं के अखाड़ों की तो गिनती ही नहीं । बड़े-बड़े मठाधीश, सन्त, महन्त—जिनकी हाथियों पर और सुसज्जित अश्वों पर सवारियां निकलती हैं । इन असंख्य नर-नारियों में

कहीं न कहीं सच्चे साधु-महात्मा भी होंगे ही—यही उत्सुकता दयानन्द को हरिद्वार के कुम्भ मेले पर खींच लाई।

पर 'साधु न चले जमात'—सच्चे साधु कहीं भीड़ में नहीं, एकान्त में ही मिलेंगे। इसलिए दयानन्द ने भीड़ से हटकर चण्डी पर्वत की एकान्त उपत्यका में डेरा लगाया। वहीं से कुम्भ के मेले को देखते रहे, मेले के रूप में उपस्थित समस्त-भारत का प्रतिनिधित्व करने वाले जन-समुदाय को आंकते रहे और भारत की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक नब्ज को टटोलते रहे।

कुम्भ का यह मेला सम्बत् १६१२ विं का मेला था। इस समय स्वामी जी की आयु ३२ वर्ष की थी। स्वामी दयानन्द इस महान् साधु-समारोह में अपनी परख के प्रभाव से उत्तमोत्तम सन्तों को मिलते थे। हर की पैड़ियों की ओर बड़ी भारी भीड़ भाड़ और महा कोलाहल था। मनुष्य पर मनुष्य गिरता था। कंधे से कंधा छिलता था। सर्वत्र गंदगी भी व्याप्त थी। तट समीप वाहिनी गंगा की धारा भी लाखों

नर नारियों के नहाने से वस्त्रों के धोने से बर्तनों के प्रक्षालन से नांगों की देह की राख से शुद्ध तो कहां निर्मल भी न रही थी। धूल से पृथ्वी और आकाश एक हो रहा था। गंगा का यह किनारा ध्यान समाधि तो कहां सुख से विश्राम लेने के भी आयोग्य हो गया था। इसी कारण महात्मा दयानन्द जी महाराज जो योग साधन में परायण थे, मेले के दिनों में चंडी पर्वत के जंगल में निवास करते हुए सच्चे योगियों की परख में लगे थे। ऐसे मेलों पर आए अन्य योगी जन भी प्रायः नदी के उसी पार रहा करते हैं। स्वामी दयानन्द को देश भर में व्याप्त धार्मिक अंध विश्वासों पाखंड और आडम्बर की सामूहिक झांकी देखने का यही-पहली बार मौका मिला था, पर उस विशाल भीड़ में उन्हें मनचाहे योगी के सत्संग का लाभ प्राप्त न हो सका।

कुंभ के इस मेले ने सत्य और ईश्वर की खोज के उनके अभियान की अमिट प्रेरणा दी और उनकी विचार सरणि में सुधार का पुट लगाया।

उत्तराखण्ड : २

ओखीमठ की यात्रा

हरिद्वार में गंगा हिमालय की कोख से निकल कर मैदान में उतरती हैं। पौराणिक कथा के अनुसार महाराज भगीरथ सागर पुत्रों के उद्धार के लिए बड़ी तपस्या से गंगा को स्वर्ग से उतार कर धरातल पर लाये थे। दयानन्द सोचता—मैं भी तपस्या करूं और देश के समस्त साधुओं को संगठित कर उन्हें राष्ट्रसेवा के मन्त्र से दीक्षित कर दूँ तो क्या भारत-माता की परतंत्रता की बेड़ियां नहीं टूट सकतीं, क्या सामाजिक क्षेत्र में नई चेतना नहीं आ सकती, क्या जन-कल्याण की नई गंगा कल्पना से यथार्थ के धरातल पर नहीं उतर सकती ?

इन्हीं विचारों में खोया युवा संन्यासी हरिद्वार से ऋषिकेश और टिहरी होता हुआ उत्तराखण्ड की ओर बढ़ चला।

टिहरी के पुस्तकालय में दयानन्द ने कुछ तंत्र सम्बन्धी पुस्तकें देखीं। तंत्रग्रन्थों में घोर पेशाचिक और पाशविक क्रियाओं का उपदेश देखकर उसे अत्यन्त विस्मय

हुआ। जब श्रीनगर और केदारघाट की पण्डितमण्डली में भी उन पाशविक वामाचारों का कोई युक्ति संगत समाधान नहीं मिला, तो मार्ग से दयानन्द को घृणा हो गई।

उत्तराखण्ड की हिममण्डित रमणीय शैल-शृंखला ने, सुन्दर प्राकृतिक परिवेश ने और वहां के निवासियों के भोले स्वभाव ने, दयानन्द का मन मोह लिया। युवा संन्यासी सोचता कि इन पर्वतों के दुर्गम शिखरों पर और एकान्त कन्दराओं में अवश्य कोई न कोई पहुँचे हुए सिद्ध महात्मा रहते होंगे। वह कभी-कभी बस्तियों को छोड़कर एकाकी ही हिमाच्छादित शिखरों की ओर चल पड़ता। जंगलों कंटीली झाड़ियों में उलझता हुआ कन्दराओं की खोज करता। पर जैसे योगियों की तलाश में वह था, वैसे योगी उसे नहीं मिले। उत्तराखण्ड में भी पाखण्डी साधुओं की कमी नहीं थी। कभी-कभी किसी विद्वान् साधु से भी भेंट हो जाती। पर सिद्ध योगी कहीं नहीं मिले।

एक बार दयानन्द चारों ओर बर्फ से ढके तुंगनाथ शिखर तक जा पहुँचे। वहां भी मनोरथ पूरा नहीं हुआ।

वापस नीचे की ओर चले। मार्ग कोई था नहीं, जिस दिशा की ओर मुड़े वह घने जंगल की ओर जाती थी। जंगल में भी कोई रास्ता नहीं। ऊपर चढ़ें या नीचे उतरें, दयानन्द किंकर्तव्यमूढ़।

अन्त में नीचे की ओर ही उतरने का निश्चय किया। मार्ग के अभाव में झाड़ियों और लता-गुल्मों को पकड़-पकड़ कर दयानन्द नीचे उतर रहे थे। कहीं चट्टानों से टकराते, कहीं कांटों से शरीर छिद जाता। कंटीली झाड़ियों में उलझकर सारे कपड़े चीर-चीर हो गए। पैर लहू लुहान। धीरे-धीरे एक सूखी नदी के कगार पर पहुंचे। वहां एक ऊँची चट्टान पर खड़े होकर देखा—चारों ओर सुनसान, अगम्य और मार्गहीन वनस्थली, ऊबड़-खाबड़ भूमि। भगवान् भुवन-भास्कर अस्ताचल की ओर तेजी से जा रहे थे। यदि रात हो जाती, अन्धकार फैल जाता तो उस भीषण वन में न कोई सहायक, न आग जलाने का कोई साधन—उतनी ऊँचाई पर ठण्ड का भी क्या ठिकाना।

दयानन्द ने हिम्मत नहीं हारी। उत्कट पुरुषार्थ का

सहारा लेकर नीचे उतरते गए। जब एक पर्वत के पादमूल में पहुंचे तो एक कुटिया के आगे कुछ पगडण्डी-सी भी थी। रात हो चुकी थी। कुटिया के निवासियों ने बताया कि पास ही उखी मठ है।

दयानन्द लंगड़ाते और अंधेरे में टटोलते- टटोलते आधी रात के आस-पास उखी मठ पहुंचे।

रात में कुछ देर विश्राम करके अगले दिन प्रातः तीस वर्षीय यह युवा-संन्यासी फिर पर्वतों में योगियों की खोज के लिए निकल पड़ा। अपने शरीर के कष्ट को भूल गया। ऐसे यौवनोचित साहस कहें या आत्मिक मनोबल कहें। जब आत्मा में किसी चीज की लगन लगी हो तब शारीरिक कष्ट व्यक्ति को विचलित नहीं कर सकते।

दयानन्द शाम तक वापस लौट आए। उसके मन में मठ के साधुओं के आचार-व्यवहार को निकट से देखने की इच्छा थी।

उखी मठ उत्तराखण्ड का बड़ा प्रसिद्ध मठ था धन-सम्पन्न। इस मठ में पुस्तकालय भी बहुत अच्छा था।

मठ के महन्त को दयानन्द की तपस्या, विद्वत्ता, तेजस्विता और ब्रह्मचर्य-परायणता ने मोह लिया। उसने प्रसन्न होकर दयानन्द से शिष्य बन जाने का अनुरोध किया और यह प्रलोभन भी दिया कि बाद में इस मठ के प्रचुर वित्तैश्वर्य के तुम ही खामी बनोगे। महन्त के इस प्रस्ताव पर दयानन्द ने कहा : 'इस मठ की जितनी सम्पत्ति है, उस से किसी भी अंश में कम मेरे पिता की सम्पत्ति नहीं है। यदि मुझे सम्पत्ति का मोह होता तो मैं घर छोड़ कर ही क्यों आता ?' क्यों यहाँ भटकता फिरता ।

उखी मठ के महन्त के इस प्रलोभन को ठुकराकर दयानन्द जोशी मठ की ओर चल दिए।

जोशी मठ की ओर बढ़ते हुए ऊखी मठ के महन्त का प्रलोभन और पूजापाठ के पाखंड से धन-सम्पदा का उपार्जन खामी दयानन्द के हृदय को उद्वेलित कर रहे थे। उनकी सच्ची योगविद्या और मोक्ष प्राप्ति की आकांक्षा उत्तरोत्तर बलवती होती जा रही थी। उनका यह दृढ़ व्रत कि जब तक तपश्चर्या करता हुआ मनुष्य मात्र की सेवा और स्वदेशोपकार

को बराबर करता रहूँगा उनकी आत्मा को साधुवाद दे रहा था। उनकी निर्लोभिता उनके उन्नत भाल पर फूलों की वर्षा कर रही थी। जोशी मठ की ओर बहने वाला वायु यह संदेश प्रवाहित करता प्रतीत होता था कि मानव समाज को दयानन्द के रूप में एक सत्य एवं दृढ़ग्रता निष्काम सेवी उद्घारक प्राप्त होगा। फारस का एक बादशाह अमरत्व के फूल की खोज में वन पर्वतों में घूमता फिरा और बड़े से बड़े दारुण कष्ट को भी तुच्छ समझता रहा। स्वामी दयानन्द भी उसी की भाँति अपने फल की खोज में घर से निकला था और बड़े से बड़े शारीरिक कष्ट को सहन करता हुआ फिरता रहा।

जोशी मठ में सन्न्याश्रम की चौथी श्रेणी के बहुत सच्चे महाराष्ट्र सन्न्यासी वास करते थे। स्वामी जी ने उन्हों के पास अपना आसन जमाया। वहां उन्हें कई योगी जन सत्संग के लिए मिल गये। स्वामी जी ने उनसे कई नवीन भेद भी प्राप्त किये और साथ ही विद्वान् साधु सन्तों से परमार्थ विषयक वार्तालाप करते रहे।

उत्तराखण्ड : ३

अलकनन्दा उद्गम : रीछ का सामना

जोशी मठ से होते हुए दयानन्द अलकनन्दा के किनारे-किनारे बद्रीनाथ पहुंचे। शंकराचार्य ने भारत की चारों दिशाओं में सांस्कृतिक चौकियों के रूप में जो चार मठ बनाए थे, उनमें उत्तर दिशा में स्थित बद्रीनाथ सब से प्रमुख हैं। दीपावली के पश्चात् इस मन्दिर के पुजारी तथा अन्य कर्मचारी नीचे जोशी मठ में आ जाते हैं, क्योंकि शीतकाल में बद्रीनाथ की सारी बस्ती चारों ओर हिम से ढक जाती है।

बद्रीनाथ के प्रधान पुजारी रावल जी से दयानन्द की वेदादि शास्त्रों के सम्बंध में अक्सर चर्चा होती। एक दिन दयानन्द ने रावल जी से पूछा कि आस-पास कोई सच्चे योगी और सिद्ध महात्मा रहते हैं या नहीं। रावल जी ने कहा— ‘मेरी जानकारी में तो कोई नहीं है, परन्तु मैंने सुना है कि कभी-कभी ऐसे योगी मन्दिर में दर्शन करने आया करते हैं।’

दयानन्द को कुछ आशा बंधी। वे योगियों की खोज में अलकनन्दा के उद्गम की ओर चल पड़े।

माना ग्राम भारत के उत्तरी सीमान्त की अन्तिम बस्ती है और उसके आगे माना जोत (शिखर) की अधित्यका में अलकनन्दा नदी का उद्गम स्थान है। अलकनन्दा के उद्गम स्थल पर पहुंच कर उन्होंने देखा कि चारों ओर गगन भेदी पर्वतमाला खड़ी है। कहीं बस्ती का या पेड़ पौधों का नाम भी नहीं है। चारों तरफ भयंकर, सुनसान है। किसी भी दिशा में किसी प्रकार का कोई मार्ग नहीं है।

अलकनन्दा के उद्गम के पास खड़े दयानन्द ने सोचा कि नदी के पार शायद कोई रास्ता मिले। वे नदी पार करने को उद्यत होकर अलकनन्दा नदी के पानी में उतर गए।

पहाड़ी नदी का तीव्र वेग, बर्फनी पानी, शिलाखण्डों के साथ हिमखण्डों का अनवरत संघर्ष। दयानन्द भूख और प्यास से क्लान्त। दुर्गम चढ़ाई पार कर वहां तक पहुंचने के कारण शरीर थकावट से चूर। दयानन्द ने प्यास बुझाने के लिए बर्फ का टुकड़ा मुँह में डाला। पर तृष्णा शान्त नहीं हुई। दयानन्द पार जाने के लिए पानी में आगे बढ़ चले।

तीक्ष्ण धार वाली बर्फ के टुकड़ों से नंगे तलवे क्षत-विक्षत हो गए। धायल हुई जगह से खून चूने लगा दारुण शीत से हाथ पांव सुन्न। शरीर इतना अशक्त कि उस शीतल जल में एक बार गिर पड़ते तो दुबारा उठ भी नहीं सकते थे। शायद वहीं चिरसमाधि की नौबत आ जाती। पर बाल ब्रह्मचारी ने हिम्मत नहीं हारी। किनारे की ओर बढ़ता रहा। निकट ही था कि किनारे पर पहुंचने से पहले ही वह नदी में गिर पड़ता, कि तभी कहीं से दो पहाड़ी आदमी निकल आए। उन्होंने दयानन्द को संभाला और हाथ पकड़ कर किनारे तक पहुंचने में सहायता की। तट पर पहुंच कर दयानन्द बेहोश हो गए।

जब कुछ होश आया तो शरीर पर पहने हुए कपड़े उतार कर पांवों के तलवों से लेकर घुटनों तक पट्टियां बांधीं। पांवों को पाला मार जाने का खतरा था। पहाड़ी आदमियों ने दयानन्द को अपने साथ ले जाना चाहा—पर दयानन्द अशक्तता के कारण हिल भी नहीं सकते थे। अगर यहीं प्राणान्त हो जाता तो सत्य की खोज के संकल्प का क्या होता ?

कुछ देर के विश्राम के बाद आत्मिक संकल्प ने शरीर में फिर चैतन्य भर दिया। मौत की घाटी को पार कर वसुधारा होते हुए दयानन्द रात को आठ बजे बद्रीनाथ पहुंचे।

उत्तराखण्ड से उत्तर कर जब दयानन्द मैदानों की ओर अग्रसर हुए तब एक दिन घने जंगल में अकस्मात् एक रीछ सामने पड़ गया। अपने वन्य-साम्राज्य में एकाकी मानुष को पाकर रीछ आक्रमण करने को लपका। तब दयानन्द ने जोर से एक हुंकार लगाई और अपने हाथ का दण्ड रीछ की ओर धुमाया तो रीछ नौ-दो ग्यारह हो गया।

राष्ट्र दुर्दशा के दर्शन

एक ओर देश में राजनीतिक क्रान्ति हो रही थी और दूसरी ओर दयानन्द के हृदय में घोर हलचल मच रही थी। वह देश-वासियों की गिरावट एवं गर्हित राजनैतिक दुरवरथा से परिचित थे। लोगों की हृदय विदारक निर्धनता और उनकी असहायावरथा को देखकर उनका हृदय रोता था। उन्होंने हजारों लोगों को भूख से तड़पते और मरते हुए देखा

था, और देखा था लाखों व्यक्तियों को जो सूखकर कांटा हो गए थे, जिनके गाल पिचक गए थे और आँखें अन्दर धंस गयी थीं जो निराश और निरुपाय थे। उन्होंने हजारों ऐसे लोगों को भी देखा था जो अपनी दुरवस्था, अपनी पैतृक संपदा से बेखबर थे, जो अपनी शक्ति से अनभिज्ञ थे। उन्होंने ऐसे व्यक्ति भी देखे जो धन के नशे में चूर मौज विहार करते थे परन्तु जिन्हें अपनी जिम्मेवारी को कोई अहसास (ध्यान) न था और न जिन्हें अपने चहुं ओर व्याप्त निर्धनता की ही अनुभूति थी, जो मुंह वाए दिन पर दिन अन्यों को अपनी लपेट में लेती जा रही थी। दयानन्द ने अपने चहुं ओर ऐसे व्यक्तियों को भी देखा जो आपस की फूट विद्वेश और घृणा से आक्रान्त और परेशान थे। और जो अपनी शक्ति और प्रतिभा से वंचित होकर दूसरों के गुलाम बन गए थे, जिनकी लकड़हारों एवं भिशितयों जैसी स्थिति बन गयी थी। दयानन्द ने उस दुरवस्था को देखकर एक स्वप्न लिया था और वह था समस्त हिन्दुओं का संगठन जिन्हें अपने वर्तमान का ज्ञान हो अपने गौरवमय भूतकाल की अनुभूति हो और जिनमें भ्रष्टाचार, अज्ञान, अभाव,

अन्याय और आन्तरिक कलंक के गढ़े से निकल और विशुद्ध एवं शक्तिशाली बने अपने पैरों पर खड़े होकर समस्त देश को संसार के राष्ट्रों में स्थान दिलाने की तड़प हो। उनका स्वप्न यह भी था कि संगठन हिन्दू जाति ही धनवानों के धमंड एवं विद्वेष को दूर करने में समर्थ होगी। तभी वे लोग गरीबों एवं अज्ञानियों का खून चूसने से बाज आयेंगे। तभी देशवासी स्वतंत्रता प्राप्त करने में ही नहीं अपितु भोगवाद की जीवन प्रणाली से लोगों को मुक्त करने के अपने मिशन में सफल होने में समर्थ हो सकेंगे जो धनवानों के द्वारा गरीबों का शोषण करना तथा लोगों को कठोर एवं क्रूर बनाना सिखाती है।

अब तक दयानन्द योगियों के पीछे दीवाने थे। किसी और चीज की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता था। हिमालय के उत्तुंग गिरिशृंगों पर योगियों की खोज से निराश हो गए। साधुओं के संगठन का स्वप्न भी चरितार्थ नहीं हुआ। तब दयानन्द उत्तर-भारत के मैदानों की ओर लौटे। तभी देश की दुर्दशा की ओर उनका ध्यान गया।

देश में भीषण अकाल पड़ रहा था। लोग अनाज के दाने-दाने को तरस रहे थे।

दयानन्द के जन्मकाल से पहले उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में जैसी अराजकता थी, वैसी अराजकता तो अब नहीं थी। पर अंग्रेजों का दमनचक्र इतना जबरदस्त था कि जनता के मनों में अन्दर ही अन्दर विद्रोह की चिनगारियां फूट रही थीं।

'फूट डालो और राज्य करो' की नीति पर चलते हुए, बन्दर बांट के द्वारा, अंग्रेजों ने अधिकांश देशी राजाओं को समाप्त कर दिया था। जो थोड़े बहुत बचे थे, उनको भी साम-दाम दण्ड-भेद के द्वारा हस्तगत करने की चेष्टा चल रही थी। इसलिए अधिकांश राजा-गण मन में आतकिंत होते हुए भी अपने असन्तोष को व्यक्त करने के लिए किसी उचित अवसर की प्रतीक्षा में थे।

यूरोप में औद्योगिक सभ्यता का विकास प्रारम्भ हो चुका था। अंग्रेजों के आर्थिक शोषण से भारत दिन प्रतिदिन गरीब होता जा रहा था और ब्रिटेन समृद्धि के नित्य नये

सोपानों पर आरोहण करता जाता था। देश में कहीं बाढ़, कहीं भीषण सूखा कहीं अकाल और जिधर देखो भूखे नंगे बच्चे और अस्थिकंकाल जैसे नर और नारी।

एक दिन का दृश्य : एक महिला अपने बच्चे के शव को लेकर नदी तट पर आई। शव को उसने नदी के जल में प्रवाहित कर दिया। परन्तु प्रवाहित करने से पहले उसने शव पर पड़े कफन को उतार लिया और उसे निचोड़ कर वापस ले चली। उसके पास तन ढकने को दूसरा कपड़ा नहीं था इसीलिए उसने अपने बेटे के शव पर से कफन भी उतार लिया।

इस दृश्य को देखकर दयानन्द का हृदय अपने देशवासियों की दयनीय दशा पर क्रन्दन कर उठा।

सन् १८५७ से पहले देश ऐसे ही दौर से गुजर रहा था।

हठयोगीय नाड़ीचक्र के परीक्षण से अनारथा

हिमालय से उतर कर गंगा के किनारे किनारे भ्रमण करते और देश-दर्शन करते दयानन्द गढ़मुक्तेश्वर पहुंचे।

एक दिन गंगा-तट पर एक मंदिर के पास वे संध्या कर रहे थे कि दैवयोग से एक शव गंगा की धारा में बहता दिखाई दिया। उन दिनों दयानन्द हठयोग के ग्रन्थों का अध्ययन कर रहे थे। नाड़ी-चक्र के सम्बन्ध में इन ग्रन्थों में जो कुछ पढ़ा था उसके सत्यासत्य की परीक्षा का यह अच्छा अवसर था।

वे गंगा में उतर पड़े, तैर कर शव को किनारे पर लाए और तेज छुरी से उसकी चीरफाड़ करके सावधानी से ग्रन्थों के वर्णन से उसका मिलान करने लगे। जब देखा कि ग्रन्थ का नाड़ीचक्र सम्बन्धी एक भी वर्णन सही नहीं है, तब उन्होंने चीरे हुए उस शवदेह को वापस गंगा में फेंक दिया और साथ में उन पुस्तकों को भी गंगा में प्रवाहित कर दिया।

इस घटना ने उनके हृदय में मनुष्यकृत ग्रन्थों के प्रति अनारथा की भूमिका तैयार की हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस घटना से उनकी सत्य के प्रति दृढ़ आरथा की भावना का भी परिचय मिलता है।

१८५७ का स्वातन्त्र्य समर :

महर्षि की गतिविधियां

ऐसे ही गंगा के साथ साथ चलते हुए संवत् १६१२ की समाप्ति पर स्वामी जी फरुखाबाद पहुंचे। वहाँ से छावनी से पूर्व दिशा वाली सड़क से कानपुर की ओर प्रस्थान किया। संवत् १६१३ में पांच महीने तक स्वामी जी कानपुर और प्रयाग के मध्यवर्ती स्थानों में विचरते हुए। वहाँ से विचरते हुए मिर्जापुर में एक मास से कुछ अधिक समय तक आशील जी के मन्दिर में जा विराजे। वहाँ से काशी गए। वहाँ वरुणा और गंगा के संगम के पास ही एक गुफा में जाकर टिके। इस बार काशी में केवल १२ दिन का आवास रहा।

जहाँ-जहाँ अंग्रेजों की सैनिक छावनियां थीं, उन-उन स्थानों की दयानन्द ने विशेष रूप से यात्रा की। इन स्थानों की यात्रा का मुख्य प्रयोजन यही प्रतीत होता है कि दयानन्द सैनिक छावनियां में विदेशी दासता के प्रति आक्रोश की कितनी मात्रा है, इनका अध्ययन करना चाहते थे।

अन्त में वे काशी से विन्ध्याचल की ओर मुड़ गए और नर्मदा नदी के उदगम की खोज में चल दिए।

बुन्देलखण्ड और विन्ध्याटवी को पार कर दयानन्द इस के बाद तीन साल तक नर्मदा और उनके आस-पास के प्रदेशों में कहां-कहां घूमते रहे और किन-किन लोगों से मिलते रहे—यह सब अभी पूरी तरह ज्ञात नहीं है। सन् १८५६ से १८५८ तक की इस अवधि के बारे में ऋषि दयानन्द की गतिविधियों के विषय में संसार अभी अंधकार में है।

इसी अवधि में सन् १८५७ की प्रथम राज्य क्रान्ति हुई, जिसे अंग्रेजों ने 'गदर' के नाम से सम्बोधित किया। इस अवधि में अपनी गतिविधियों के बारे में इस युवा संन्यासी की यह चुप्पी भी इतनी जबर्दस्त है कि उसी से इस कल्पना को आधार मिलता है कि दयानन्द ने इन तीन वर्षों में इस राज्य क्रान्ति के नेताओं के साथ कंधे से कंधा मिलाकर विदेशी शासन को उखाड़ने का प्राणपण से प्रयत्न किया था।

धीरे-धीरे इस राज्यक्रान्ति की उत्तप्त ज्वाला शान्त हो

गई। अंग्रेजों के भीषण दमनचक्र और देशवासियों की आपसी फूट के कारण वह बेल मढ़े चलने वाली नहीं थी।

सच्चे गुरु की खोज

परन्तु दयानन्द के हृदय की ज्वाला शान्त नहीं हुई। न हिमालय के हिम ने वह आग बुझाई, न गंगा और नर्मदा के जलों ने ज्वाला को शान्त किया। कनखल में स्वामी पूर्णाश्रम अपने अगाध पाण्डित्य के लिए गहन शास्त्र-चिन्तन के लिए विख्यात थे। जिज्ञासु दयानन्द ज्ञान की प्यास बुझाने के लिए उनकी सेवा में पहुंचे। परन्तु वे उस समय बहुत वृद्ध थे और अशक्ति के कारण प्रायः मौन ही धारण किए रहते थे। उन्होंने एक कागज पर लिख कर दयानन्द को मथुरा में दण्डी स्वामी विरजानन्द के पास जाने का परामर्श दिया।

स्वामी पूर्णानन्द ने दयानन्द को विरजानन्द के पास जाने का परामर्श कोरे विद्याध्ययन के लिए ही नहीं दिया था। दयानन्द में जो तेजस्विता और अखण्ड राष्ट्रभक्ति की ज्वाला उन्हें दृष्टिगोचर हुई, उस के कारण उन्हें विरजानन्द

के पास भेजना ही उचित था। सन् १८५७ की राज्यक्रान्ति के सूत्रधारों से विरजानन्द का घनिष्ठ संबंध रहा था और स्वामी पूर्णानन्द भी उसी प्रकार की विचारधारा वाले संन्यासी थे। इसलिए उनका उक्त परामर्श सुसंगत लगता है।

इसके अतिरिक्त अपनी पाठशाला के लिए विरजानन्द ने मथुरा को ही क्यों चुना था, इसमें मथुरा की भौगोलिक स्थिति भी एक प्रमुख कारण थी। मथुरा महाभारत के समय से देश की राजनीति को प्रभावित करने वाला क्षेत्र रहा था। उसके उत्तर पश्चिम की ओर भारत का वह भाग था जो हिमालय तक चला गया था और दक्षिण पश्चिम की ओर राजस्थान, मध्य प्रदेश, गुजरात और महाराष्ट्र पड़ता था। सन् १८५७ की राज्यक्रान्ति में इन्हीं प्रदेशों ने अधिक भाग लिया था। इसी प्रकार मथुरा स्थित यह पाठशाला एक प्रकार से विचार-क्रान्ति का केन्द्र थी।

दयानन्द ने अपने हृदय का ताप बुझाने के लिए इसी क्रान्ति केन्द्र विद्या-स्रोत की ओर प्रस्थान किया और मथुरा पहुंच कर विरजानन्द की कुटी का द्वार खटखटाया।

स्वामी विरजानन्द

कौन थे यह स्वामी विरजानन्द ? पंजाब के करतारपुर नामक कस्बे के निकट गंगापुर में नारायणदत्त सारस्वत ब्राह्मण के घर जिस बालक का जन्म हुआ था, उस पर बचपन में ही विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा । पांच वर्ष की अवस्था में चेचक से आंखें चली गईं । ११ वर्ष की अवस्था में माता-पिता अनाथ करके चले गए । बड़े भाई और भावज ने इस अन्धे और अनुपयोगी भाई को अपने ऊपर बोझ समझा । फलतः एक दिन बालक को अपने घर से निकलना पड़ा ।

बालक की स्मरण-शक्ति बहुत अच्छी थी । जो कुछ सुनता उसे तत्काल याद हो जाता । कनखल, हरिद्वार, ऋषिकेश और काशी आदि स्थानों में चिरकाल तक विद्या पढ़ता रहा । यही बालक आगे चलकर विरजानन्द कहलाया ।

स्वयं विद्याध्ययन करके और संन्यास लेकर स्वामी विरजानन्द ने विद्यार्थियों को पढ़ाना आरम्भ किया । धीरे-धीरे उनका यश चारों ओर फैलने लगा । व्याकरण के वे अद्वितीय विद्वान् थे । उनका उच्चरण इतना शुद्ध था और

श्लोक-गान इतना मधुर था कि उससे प्रभावित होकर महाराजा अलवर ने उनसे अपने यहां चलने का अनुरोध किया। स्वयं महाराज प्रतिदिन तीन घण्टे विद्याध्ययन करने आवें— इस शर्त के साथ विरजानन्द अलवर गए। परन्तु विलासी राजा अपना प्रण निभा न सका। जिस दिन राजा पढ़ने नहीं आया, उससे अगले दिन ही दण्डी जी ने अपना आसन वहां से उठा लिया।

कुछ दिन तक दण्डी जी रजवाड़ों में घूमते रहे। अपने जीवन के उत्तरार्ध में जिस आकांक्षा को लेकर ऋषि दयानन्द रजवाड़ों का चक्कर लगा रहे थे, कौन जाने, दण्डी जी को भी वैसी ही मंशा रही हो। बाद में उन्होंने मथुरा में अपना आसन जमाया।

धीरे-धीरे उनके पाण्डित्य की इतनी ख्याति हो गई कि दूर दूर से, यहां तक कि काशी से भी, विद्यार्थी उनके पास पढ़ने के लिए आने लगे।

जिस प्रकार दयानन्द अमृत की प्यास में भटकता रहा, उसी प्रकार विरजानन्द भी बहुत भटके। जिसने किसी निश्चित उद्देश्य के लिए तपस्या न की हो और अपने

मनोरथ की पूर्ति के लिए शरीर न गलाया हो, वह इस पीर के मर्म को नहीं समझ सकता। इस दृष्टि से देखने पर स्वामी विरजानन्द दयानन्द के गुरु बनने के पूर्णतः अधिकारी थे।

आर्ष पाठविधि की शिक्षा

जिस समय दयानन्द ने दण्डी स्वामी का द्वार खटखटाया और उनके चरणों में बैठ कर विद्याध्ययन करने की इच्छा प्रकट की, तब दण्डी जी ने पूछा—‘क्या कुछ व्याकरण पढ़ा है?’

दयानन्द ने उत्तर दिया—‘सारस्वत पढ़ा है।’

इस पर आदेश हुआ कि पहले सब अनार्ष ग्रन्थों यमुना में प्रवाहित कर दो, तभी आर्ष ग्रन्थ पढ़ने के अधिकारी बन सकते हो। शिष्य की बड़ी कठिन परीक्षा थी। चंद पुस्तकों के सिवाय उसकी और सम्पत्ति ही क्या थी? और उन पुस्तकों को भी अपने हाथों से जल समाधि? जैसे किसी को सर्वस्व त्याग करने के लिए कहा जा रहा हो।

शिष्य इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ। उसने अपना जी कड़ा करके अपने पास की सब पुस्तकें यमुना की भेंट कर

दीं और फिर खाली हाथ, सर्वात्मना गुरु को समर्पित होकर चरणों में आकर बैठ गया।

दयानन्द ने अन्य शिष्यों के साथ विद्यामृत का पान आरम्भ कर दिया।

बाल ब्रह्मचारी दयानन्द का विद्यार्थी-जीवन की अनुकरणीय था। प्रातःकाल उठकर नित्यकर्म से निवृत्त होकर पहले गुरु जी के स्नानार्थ नदी से जल लाते, फिर स्वयं सन्ध्योपासना करते और स्वाध्याय में लग जाते। कुछ उदार दानी महानुभावों ने उनके भोजन की और यमुनातट के विश्राम घाट पर छोटे से कमरे में रहने की व्यवस्था कर दी थी।

दयानन्द ने दण्डी जी से अष्टाध्यायी और महाभाष्य के अलावा अन्य आर्षग्रन्थों का भी अध्ययन किया। दण्डी जी का यह दृढ़ मत था कि मनुष्यकृत ग्रन्थों में सार कम और शब्दाङ्गन्बर ज्यादा होता है, जबकि ऋषिकृत ग्रन्थों में सार ही सार कूट-कूट कर भरा होता है।

परन्तु ग्रन्थों का अध्ययन ही सब कुछ नहीं था। इन ग्रन्थों से बढ़कर एक दृष्टि थी—जो गुरु विरजानन्द ने

दयानन्द को दी थी। वह दृष्टि थी—नीर-क्षीर का विवेक वाली, सत्य-असत्य को पहचानने वाली और पाखण्ड तथा अन्धविश्वासों को निरस्त करने वाली। दयानन्द के मन में ज्वाला पहले से ही जागृत थी, गुरु विरजानन्द ने उस का परिष्कार करके उसे उचित दिशा प्रदान की। दयानन्द इस तत्त्वान्वेषी दृष्टि के लिए अपने गुरु का जन्म भर आभारी रहूंगा।

गुरु-दक्षिणा

तीन साल तक दयानन्द ने विरजानन्द की पाठशाला में विद्या ग्रहण की।

अध्ययन-काल समाप्त हुआ, तो गुरु-दक्षिणा के रूप में कुछ लौंग लेकर दयानन्द के चरणों में उपस्थित हुआ और बोला, 'गुरुवर ! मेरे पास और तो कुछ है ही नहीं,' जो आपको भेंट करूँ। आपको लौंग बहुत पसन्द हैं, इसलिए यह आध सेर लौंग कहीं से मांग कर लाया हूँ और आपकी सेवा में उपस्थित हूँ।'

गुरु ने एक लौंग हाथ में उठाकर कहा—
"लौंग तो बाजार में कहीं भी मिल जाएगी। दयानन्द! मैं तुझ

से वहीं चीज चाहता हूँ जो तेरे पास है और तेरे सिवाय किसी के पास नहीं है।”

दयानन्द ने विनम्रता-पूर्वक कहा—“गुरुवर ! आप आदेश कीजिए, मेरे पास ऐसी कोई चीज नहीं जो मैं आपको भेटन कर सकूँ।”

दण्डी स्वामी ने कहा—‘दयानन्द ! मैंने तेरे हृदय में एक ज्वाला के दर्शन किये हैं और ज्वाला को अपनी ओर से दिशा देने का प्रयत्न किया है। वह है ज्ञान की ज्वाला, सत्यान्वेषण की ज्वाला। सत्य धर्म की ज्वाला से अवैदिक मतमतांतरों के अंधकार को मिटाओ और वैदिक धर्म को फैलाओ। देश का उपकार करो और मानव-जाति का उद्धार करो। वत्स दयानन्द ! बस यही गुरुदक्षिणा मैं तुझसे चाहता हूँ। अन्य किसी सांसारिक वस्तु की मुझे इच्छा नहीं।’

जो वस्तु पर्वतों की चोटियों पर, वनों की स्तब्धता में, नदियों के प्रवाह में और साधु-महात्माओं तथा महन्तों के डेरों में ढूँढने पर भी नहीं मिली, वह अमृत के प्यासे दयानन्द को मथुरा नगरी में दण्डी विरजानन्द के चरणों में मिली।

उस विवेक-बुद्धि को गांठ बांधकर बाल ब्रह्मचारी दयानन्द ने गदगद कण्ठ से कहा—‘तथास्तु।’

विरजानन्द ने पुलकित होकर दयानन्द के सिर पर हाथ रखा और बारम्बार आशीर्वाद देते हुए कहा—‘बहुत अच्छा अब जाओ, ईश्वर तुम्हारा मनोरथ सफल करे।’

अन्त में इतना और कहा—‘दयानन्द !’ यह सदा स्मरण रखना कि मनुष्यकृत ग्रन्थों में परमात्मा और ऋषिमुनियों की निन्दा होती है, परन्तु ऋषिकृत ग्रन्थों में इस का लेश भी नहीं होता। आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों की यही एक कसौटी है। इस कसौटी को कभी मत छोड़ना।’



महर्षि कार्यक्षेत्र में

आगरा

जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम अगस्त्य मुनि के आश्रम से दिव्य अस्त्र-शर्त्र सम्पन्न होकर जन-कल्याण के लिए अग्रसर हुए थे, वैसे ही दण्डी स्वामी विरजानन्द की कुटी से बाल-ब्रह्मचारी दयानन्द विद्या के अलौकिक अस्त्रों से सुसज्जित हो कर कर्मक्षेत्र की ओर उन्मुख हुए।

मथुरा से दयानन्द आगरा आए। वही आगरा जो मुगलकाल में कभी भारत की राजधानी रहा और जहां संसार का आठवां आश्चर्य समझा जाने वाला ताजमहल आज भी शान से गर्दन उठाए ज्यों का त्यों खड़ा है। उस युग में हाईकोर्ट भी आगरा में था, इसलिए इस नगर में और विशेष चहल-पहल रहती थी।

यह वही नगर था जहां स्वामी दयानन्द सरस्वती गुरुदेव के आदेशानुसार संसार के उपकार और देश के उद्धार के निमित्त पुनः पहली बार दुनिया में प्रविष्ट हुए थे।

ताजमहल की शोभा तो वर्णनातीत है। फ्रेंच यात्री डा० बर्नियर ने इसका वर्णन करते हुए अपनी यात्रा पुस्तक में लिखा था—

‘सैकड़ों तरह के दलानों और महरावों पर जो एक दूसरे पर बने हुए हैं। यह इमारत बनी है। देखने में यह बहुत ही सुन्दर है और इसकी बनावट भी बहुत अच्छी है। इस में कोई स्थान ऐसा नहीं है जो देखने में भद्दा मालूम हो, बल्कि सारी इमारत ही सुन्दर बनी है और उसे देखने से कभी जी नहीं भरता। अन्तिम बार जब मैंने उसे देखा तो उस समय मेरे साथ एक फ्रांसीसी व्यापारी था। मुझे भय था कि बहुत दिनों तक भारत रहने के कारण कदाचित् मेरी समझ कुछ बदल गयी और इसी कारण मैंने अपनी सम्मति उस पर प्रकट न की। पर एक ऐसे व्यक्ति से जो हाल में ही फ्रांस से आया था मैं यह सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुआ कि सारे यूरोप में उसने ऐसी सुन्दर और शानदार इमारत कभी नहीं देखी। यह इमारत संसार की विचित्र चीजों में गिने जाने के लिए अधिक उपयुक्त है। इस में कारीगरी और कला-कौशल का बहुत ही अधिक समावेश है।’

मूर्ति पूजा खण्डन : मूर्ति पूजा क्यों वर्जित है?

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।

(यजु० ३२ १३)

जिसका (परमात्मा का) महान् यश है उसकी कोई प्रतिमा (मूर्ति) नहीं ।

- तीर्थ, पशुयज्ञ, लकड़ी, पत्थर और मिट्टी की मूर्तियों में जिनके मन लगे हैं वे मनुष्य मूढ़ और अज्ञानी हैं !

—महाभारत

- वात, पित्त, कफ तीन मलों से बने हुए शरीर में जो आत्म-बुद्धि, स्त्री आदि में स्वबुद्धि, पृथ्वी आदि से बनी हुई मूर्ति में पूज्य बुद्धि और पानी में तीर्थ देखता है, वह मनुष्य गोखर (गऊओं का चारा ढोने वाला, गधा) है।

आगरा में यमुना तट पर स्थित भैरव मंदिर के निकट एक उद्यान में दयानन्द ठहरे । वहीं एक और साधु भी रहता था । जब उसने दयानन्द जैसे तेजस्वी और विद्वान् परमहंस साधु के उद्यान में निवास की सूचना नगर के प्रतिष्ठित जनों को दी, तो बहुत से नगरवासी स्वामी जी के पास आने लगे ।

आगरा में दयानन्द जब तक रहे, तब तक नियमपूर्वक योगाभ्यास करते रहे। जो भक्तजन उन से व्याकरण आदि पढ़ना चाहते, उन्हें सहर्ष पढ़ाते और कभी-कभी किसी-धर्म ग्रन्थ की कथा भी किया करते।

उस समय भारत देश और आर्य-जाति की दशा स्वयं मुक्त कण्ठ से चिल्ला-चिल्ला कर कह रही थी कि उसे एक सबल सुधारक की आवश्यकता है।

दयानन्द के पास अगाध पाण्डित्य था, अखण्ड ब्रह्मचर्य का बल था और प्रबल उत्साह था। साथ ही साधुओं के पाखण्ड और विद्वानों के आपसी मतभेदों को देखकर वे धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र की विकृत अवस्था से भी पूर्णतः परिचित हो गए थे। परन्तु सुधार का कौन-सा कार्यक्रम अपनाया जाए, यह अभी तक उन के सामने स्पष्ट नहीं हुआ था।

आगरा के बृहत् पुस्तकालय से पुस्तकें लेकर वे उन का स्वाध्याय करते। कभी-कहीं कुछ शंका होती तो पत्र लिखकर या स्वयं श्रीचरणों में उपस्थित होकर गुरु विरजानन्द से समाधान प्राप्त करते। अपने एकान्त के क्षणों में वे अपने

भावी कार्यक्रम पर गम्भीरता पूर्वक विचार करते परन्तु एक बात उस समय भी दयानन्द के सामने बिल्कुल स्फृष्ट की। वे मूर्तिपूजा को देश के धार्मिक अधःपतन का कारण मानते थे और इसलिए निस्संकोच होकर उसका खण्डन करते थे।

एक दिन चेतुलाल और कालिदास जैसे प्रसिद्ध पण्डितों
 1 smud kohn-विवाद हो गया जिसमें उन दोनों पण्डितों ने स्वामी जी के कथन की सत्यता को स्वीकार कर लिया, पर साथ ही यह भी कहा, कि गृहस्थियों की रोजी रोटी इसी से बंधी हुई है, इसलिए हम इसके विरुद्ध कुछ बोल नहीं सकते।

ग्वालियर में प्रचार : भागवत खण्डन

आगरा से धौलपुर होते हुए दयानन्द ने जिस समय ग्वालियर के लिए प्रस्थान किया, उस समय ग्वालियर नरेश महाराजा जियाजीराव सिंधिया ने १०८ भागवत पाठ का आयोजन कर रखा था। महाराजा जियाजीराव बड़े धर्मनिष्ठ थे और युवराज की दीर्घायु के लिए तथा महारानी के गर्भस्थ शिशु की सुरक्षा के लिए उन्होंने यह आयोजन किया था। महाराजा ने स्वामी जी को भी भागवत पाठ के

आयोजन में आमंत्रित किया, परन्तु स्वामी जी ने कहा कि यदि गायत्री का पुरश्चरण होता तो मैं आ सकता था, भागवत-पाठ में नहीं।

इसके बाद दयानन्द ने अपने निवास-स्थान पर निर्भीकता पूर्वक भागवत मैं वर्णित रासलीलाओं का खण्डन प्रारम्भ कर दिया। भागवत पाठ में सम्मिलित कई धुरन्धर पण्डित और आचार्य भी वेष बदलकर स्वामी जी के प्रवचनों में आते और उनकी विद्वत्ता पर मुग्ध होकर लौटते।

बाद में पता लगा कि जिस राजकुमार की दीर्घायु के लिए भागवत पाठ किया गया था, उसकी मृत्यु हो गई। महारानी को ५ मास का गर्भक्षय हो गया और उसी मास नगर में ऐसा भयंकर हैजा फैला कि लोग नगर छोड़-छोड़ कर भागने लगे।

स्वामी जी ने एक दिन कहा—

'देखो ! श्री कृष्ण जी का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र आर्य पुरुषों के सदृश है, जिनमें कोई अधर्म का आचरण श्री कृष्ण जी ने जन्म से मरण पर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया

हो, ऐसा नहीं लिखा और इस भागवत वाले ने अनुचित मनमाने दोष लगाए हैं। दूध, दही, मक्खन आदि की चोरी लगाई, कुब्जा दासी से समागम, पर स्त्रियों से रास मंडल क्रीड़ा आदि मिथ्या दोष श्री कृष्ण जी में लगाए हैं। इस को पढ़-पढ़ा सुन-सुना के अन्य मत वाले श्री कृष्ण जी की बड़ी निन्दा करते हैं। जो यह भागवत न होता तो श्री कृष्ण जी के सदृश महात्माओं की झूठी निन्दा क्यों कर ही सकती थी?

गालियर के महाराजा ने अपने कर्मचारियों के द्वारा भागवत सप्ताह का माहात्म्य श्री स्वामी जी से पुछवाया था तो स्वामी जी ने निर्भीकता पूर्वक यह उत्तर दिया था कि, 'ऐसे कार्यों के फल कष्ट क्लेश से भिन्न कुछ नहीं हुआ करते।' यह सुनकर महाराजा ने हंसकर कहा था, 'स्वामी जी संन्यासी हैं इसलिए चाहे जो कह सकते हैं परन्तु हम गृहस्थ हैं। हमें तो सब कुछ करना ही पड़ता है। अब तो वैसे भी सप्ताह की सामग्री का उपयोग पूर्ण कर लिया गया है।' स्वामी जी के सत्परामर्श को न मानने का जो फल हुआ वह उपर्युक्त पंक्तियों में वर्णित है।

जयपुर में प्रचार

ग्वालियर के बाद दयानन्द लगभग एक सप्ताह तक करौली ठहरे और वहां से जयपुर पहुंचे।

वहां की संस्कृत पाठशाला के पंडित अपने आपको बड़ी तीसमार खां समझते थे। स्वामी जी ने उनको १६ प्रश्न लिखकर भेजे परन्तु उन पंडितों से उन प्रश्नों का उत्तर देते न बना।

अचरौल के ठाकुर रणजीतसिंह साधु- संन्यासियों के, सत्संग के बड़े प्रेमी थे। साधु सन्तों में उनकी बड़ी भक्ति थी। वे राधाकृष्ण के नाम का जप करते और इसी के उपासक थे। बीकानेर के ठाठ हमीरसिंह उनके मित्र थे। वे किसी मुकद्दमे में जयपुर आए हुए थे। उन्होंने ठाठ रणजीतसिंह को स्वामी जी महाराज का परिचय देकर उनके उपदेशों से लाभ उठाने की प्रेरणा दी और कहा कि उनके उपदेश से सत्य का बोध हो जायगा। वह स्वामी जी के दर्शनों के लिए जयपुर आए और अचरौल पधारने के लिए बड़े सम्मान पूर्वक निमंत्रण दिया। स्वामी जी को लेने के लिए उन्होंने गाड़ी भेजी परन्तु स्वामी जी पैदल चलकर अचरौल पहुंच गए। स्वामी के सत्संग से ठाठ रणजीतसिंह के सभी संशय मिट गये।

जयपुर में उन दिनों शैवों एवं वैष्णवों का परस्पर मनोमालिन्य चल रहा था। महाराज रामसिंह का झुकाव शैव मत की ओर था। महाराज ने विशाल शास्त्रार्थ का आयोजन किया था। शैवों और वैष्णवों का शास्त्रार्थ हुआ। स्वामी दयानन्द शैवों के अनुनय विनय करने पर शैव पक्ष के समर्थन में बोले। स्वामी जी ने वैष्णव सम्प्रदाय की धर्म पुस्तकों से प्रमाण देकर इस सम्प्रदाय की समालोचना की तो जहां वैष्णवों को लज्जा और पराजय ने अभिभूत कर दिया वहां शैवों की प्रसन्नता की कोई सीमा न रही। स्वामी जी को यह सिद्ध करना था कि वैष्णव सम्प्रदाय बहुत आधुनिक एवं निर्मूल है तथा भद्र भी नहीं है। शैव लोग हर्ष से उछल रहे थे।

दयानन्द महिमा

(१)

कामना विज्ञानवादी मुक्ति की करने लगे,
ध्यान द्वारा धारणा में ध्येय को धरने लगे।
आलसी, पापी, प्रमादी पाप से डरने लगे,
अन्धविश्वासी सच्चाई धूल में भरने लगे ॥
धूलि मिथ्या की उड़ा दी, दंभदाहक हो गया,
देख लो लोगो दुबारा भारतोदय हो गया।

— — —

(२)

तर्क झंझा के झकोले, झाड़ते चलने लगे,
 युक्तियों की आग चेती जालिया जलने लगे।
 पुष्प के पौधे फबीले फूलने फलने लगे,
 हाथ हत्यारे हठीले मादकी मलने लगे॥

— रविशंकर

तभी अचानक यह अफवाह फैल गई कि महाराज अपने राज्य से वैष्णवों को निष्कासित कर रहे हैं और जमीन जायजाद छीन रहे हैं। इससे नगर की वैष्णव प्रजा आलंकित हो गई और शहर छोड़-छोड़ कर भागने लगी।

गोकुल जी के मन्दिर का अध्यक्ष श्री कृष्ण की मूर्ति को अपने साथ लेकर नगर से बाहर चला गया और सहस्रों नगरवासी रोते-चिल्लाते उसके पीछे-पीछे गए।

अन्त में महाराज ने राज्य की ओर से यह घोषणा की कि हम वैष्णवों को राज्य से नहीं निकालना चाहते, न ही उन की सम्पत्ति जब्त करना चाहते हैं। उन्हें अपनी धार्मिक मान्यताओं के अनुसार जीवन-यापन की पूरी स्वतंत्रता रहेगी, राज्य की ओर से उसमें कोई बाधा नहीं होगी। तब कहीं शैव-वैष्णव का यह विवाद शान्त हुआ।

अजमेर में प्रचार : कर्नल ब्रुक से भेंट

अजमेर में स्वामी जी का पादरी राबिन्सन और शूलब्रेड के साथ वार्तालाप हुआ। अजमेर के डिप्टी कमिश्नर मेजर ए०जी० डेविडसन और असिस्टेंट कमिश्नर अपटन साहब से भी भेंट हुई।

कर्नल ब्रुक अजमेर में गवर्नर जनरल के पोलिटिकल एजेण्ट थे। जिस उद्यान में स्वामी जी ठहरे हुए थे उसमें एक दिन कर्नल ब्रुक धूमने आए तो स्वामी जी से साक्षात्कार हुआ। स्वामी जी ने उनसे गोवध बन्द करने के बारे में बात की। अगले दिन कर्नल ब्रुक ने अपनी गाड़ी भेज कर स्वामी जी को अपने निवास स्थान पर बुलाया। वहां स्वामी जी ने कर्नल ब्रुक की गोरक्षा से लाभ और गोवध से हानि के बारे में विस्तार से समझाया। उस समय और भी कई विशिष्ट व्यक्ति उपस्थित थे। कर्नल साहब ने स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया कि गोवध हानिकारक है परन्तु साथ ही कहा कि यह मेरे अधिकार-क्षेत्र से बाहर की बात है। इस विषय में आप सीधे लाट साहब (गवर्नर जनरल) से बात करें। उन्होंने लाट साहब के नाम स्वामी जी की एक चिठ्ठी भी लिख कर दी।

कुम्भ पर प्रथम उपचार

जयपुर से पुष्कर, अजमेर और आगरा होते हुए दयानन्द मथुरा पहुंचे। वहां गुरु विरजानन्द से फिर अनेक विषयों पर शंका-समाधान और विचार-विनिमय के बाद दयानन्द के मन में कार्यक्षेत्र में उतरने के बाद जो दुविधा और किंकर्तव्यविमूढ़ता थी, वह समाप्त हो गई। मन का रहा-सहा संशय भी जाता रहा। गुरु ने जैसे ज्ञानांजन शलाका से आंखों में रोशनी पैदा कर दी। अपने गुरु स्वामी विरजानन्द के साथ दयानन्द की यह अंतिम भेट थी।

दयानन्द नई प्रेरणा लेकर हरिद्वार की ओर रवाना हुए।

हरिद्वार पहुंच कर दयानन्द ने देखा कि गंगा के तट पर जैसे जनता का सागर उमड़ पड़ रहा है। नाना प्रदेशों और नाना सम्प्रदायों के नर-नारी वहां एकत्र हैं। हरेक सम्प्रदाय के साधुओं का अपना अलग डेरा है। अपना अलग झण्डा। जिधर निकल जाओ उधर भीड़ ही भीड़ है।

हरिद्वार से तीन मील परे ऋषिकेश की ओर, स्वामी दयानन्द ने सप्तसरोवर में बाढ़ा बांधकर, कुछ छप्पर

डालकर, डेरा बनाया और वहां एक पताका गाड़ दी जिस पर लिखा था—‘पाखण्ड खण्डिनी पताका।’ उस समय कुछ ब्रह्मचारी और संन्यासी उनके साथ थे।

विचित्र की यह पताका, अश्रुतपूर्व और अदृष्टपूर्व। लोग देखते और चकित होते—यह कैसी पताका है !

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हरिद्वार के कुंभ के मेले में सत्य के प्रचार के रथान पर पाखण्ड खण्डिनी पताका स्थापित कर दी और प्रतिदिन सत्य का उपदेश करना आरम्भ कर दिया।

जिस दिन साम्प्रदायिक धर्म की राजधानी में पौराणिक धर्म के केन्द्र में एक निर्भय आत्म-त्यागी महात्मा ने सत्य का नाद बजाया और पाखण्ड खण्डिनी पताका रथापित की, वह दिन धर्म के इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगा। वह पताका वैदिक धर्म की घोषण थी। उस निराली पताका (झंडे) को देखकर लोग हजारों की संख्या में भीतर चले जाते और उन में से बहुतेरे स्वामी जी के कथनों को स्वीकार कर लेते थे। उस सारे मेले में जहां सुनो महर्षि दयानन्द के प्रचार और पताका की चर्चा सुनाई देती थी। आज तक लोगों ने

एक संन्यासी के मुख से मूर्ति पूजा का खण्डन, श्राद्धों का निराकरण, अवतारों का थोथापन, पुराणों तथा उपपुराणों का काल्पनिक होना और पर्व स्नान माहात्म्य का मिथ्यात्व नहीं सुना था।

सतां परोपकाराय सम्भवन्ति विभूतयः ।

सज्जनों की विभूति परोपकार के लिए ही होती है।

स्वामी जी ने प्रतिदिन उपदेश देना प्रारंभ किया—जिस में उन्होंने मूर्तिपूजा, अवतारवाद, भागवत, तीर्थ, तिलक, कंठी आदि का खण्डन किया।

सारे मेले में इस अद्भुत पताका की, इस अद्भुत संन्यासी की और उसके अद्भुत उपदेशों की चर्चा होने लगी। डेरे पर दिन भर मेला सा लगा रहता।

दर्शकों में सभी तरह के लोग होते—धर्म के ठेकेदार भी विद्याभिमानी पण्डित भी, सामान्य गृहस्थी भी और वीतराग संन्यासी भी। दयानन्द के उपदेशों की सब पर अलग-अलग प्रतिक्रिया होती—कुछ पर अनुकूल और कुछ पर प्रतिकूल।

कुम्भ के अवसर पर स्वामी दयानन्द ने देखा कि जनता अन्धकार में फंसी हुई है और पण्डित लोग

स्वार्थान्ध होकर लोगों को धर्म के नाम पर लूट रहे हैं। गृहस्थी लोग दुर्व्यसनों में फंसे हैं और साधु नाम के तो साधु हैं, पर गृहस्थियों से भी गए बीते हैं।

ऐसी दशा में स्वामी जी ने, जिनके मन में समाज के कल्याण और देश के हित की भावना लगातार तीव्र होती जाती थी, सोचा कि अन्य साधुओं की तरह रहने से काम नहीं चलेगा, मुझे सांसारिक मोह-माया से एक दम ऊंचा उठना चाहिए और अपनी वाणी में इतना बल पैदा करना चाहिए कि वह लोगों के हृदय को प्रभावित करती चली जाए।

सर्वस्व त्याग

उस समय सचमुच स्वामी जी महाराज ने अपने आपको अकेला अनुभव किया था। उन्होंने सोचा कि परोपकार एक महायज्ञ है। इसी को पूर्ण करने के लिए मैं दीक्षित हुआ हूँ। परन्तु यह सर्वोपरि यज्ञ तक तक सिद्ध न होगा जब तक पूर्णाहुति में सर्व वै पूर्ण स्वाहा न किया जायगा।

प्रकृति के पुस्तकालय में स्वाध्याय करने वाले

श्री स्वामी दयानन्द जी ने प्रण कर लिया कि ईश्वर कृपा से जितना ज्ञान मुझे प्राप्त है, धर्म प्रचार और लोकहित करते हुए उसे सफल बना दूँगा ।

स्वामी जी के इस त्याग की पृष्ठ भूमि पर गंभीर विचार करते समय कुछ तथ्य सामने आ जाते हैं । आगरा, ग्वालियर, जयपुर, पुष्कर, अजमेर आदि स्थानों में भ्रमण करते हुए उन्हें प्रत्यक्ष हो गया था कि स्वार्थी पंडे पुरोहित बन अपने पुरातन पुरुषों के पौरुष को खो चुके हैं । वे तो इतने असमर्थ हो गये हैं कि परोपकार के लिए एक साधारण सी सामयिक स्वार्थ की जंजीर तोड़ने का भी साहस नहीं करते । उस अंधकार और निराशा की रात में उन्हें आशा का एक टिमटिमाता हुआ दीपक दिखाई दिया था और वह था हरिद्वार में कुंभ के मेले में साधु-संन्यासियों का सम्मेलन । वह सोचते थे कि साधु-संन्यासी लोग घर-बार त्यागी हैं । विरक्त हैं । भिक्षा पर जीवित न रहने से स्वार्थ की कीचड़ से पार हो गए हैं । ब्रह्म चिन्तन के कारण आत्मज्ञानी और समदृष्टि हैं, लोभ मोह के बंधन तोड़ बैठे हैं । यदि वे जागृत हो जायें, पर हित कामना से कटिबद्ध होकर कार्यक्षेत्र में उतर आयें तो आर्य सनातन के सिर पर से दुःख दारिद्र्य

के दिन दूर होते देर न लगेगी। उसकी उन्नति का सितारा फिर चमक उठेगा। आर्य धर्म का प्रचार, आर्यवर्त्त में ही क्यों देश-देशान्तरों में भी हो जायेगा। सर्वत्र ही आर्ष ग्रन्थों का पठन-पाठन प्रवृत्त हो जायगा परन्तु सारा बल लगाने पर भी वहां उस महामेले में एक भी सत्य का सहायक साधु संन्यासी ने मिला था। इसी समय स्वामी जी के आत्म-निरीक्षण ने उन्हें सर्वस्व त्याग की प्रबल प्रेरणा दी थी।

जिसमें नहीं जातीय हित, पर सुधार उपकार।
धर्म भावना रहित जो, सो नरदेह आसार ॥

कभी-कभी वे एकान्त में किसी वृक्ष को सम्बोधित करके व्याख्यान देने लगते, वृक्ष से ही शास्त्रार्थ करने लगते। इस प्रकार सरस्वती के वरद पुत्र दयानन्द की वाणी और सान पर चढ़ गई।

एक दिन व्याख्यान देते-देते इतने भाव विभोर हो गए कि 'सर्व वै पूर्ण स्वाहा' कहकर बीच में ही उठ खड़े हुए और जो कुछ उनके पास साज-सम्मान था, सब लोगों को बांटना प्रारम्भ कर दिया। अपने पास केवल एक कौपीन रखकर शेष सब कुछ बांट दिया और यह प्रण किया कि जब तक इष्टसिद्धि नहीं होगी तब तक गंगा-तट पर ही विचरण करूंगा और संस्कृत में ही भाषण करूंगा।

कुम्भ के मेले की समाप्ति पर और सर्व वै पूर्ण स्वाहा करने के बाद स्वामी जी ऋषिकेश गए और वहां से लौट हरिद्वार, कनखल होते हुए लंढौरा पहुंचे। वहां वे तीन दिन से निराहार थे। भूख ने जब बहुत व्याकुल किया तो उन्होंने गंगा तट के पास के खेत के स्वामी से बैंगन मांगे और उससे तीन बैंगन लेकर भूख वेदना को शान्त किया।

कुम्भ के बाद प्रचार यात्रा

सर्वस्व त्यागी, केवल कौपीनधारी, यह बाल ब्रह्मचारी इसी प्रकार उत्तर प्रदेश के गंगा तटवर्ती नगरों का भ्रमण करते-करते अपनी प्रचार यात्रा में संलग्न हो गए। उनकी वाणी में इतना बल आ गया कि जहां भी जाते, उनके व्याख्यान सुनने के लिए लोगों की भीड़ उमड़ पड़ती।

गढ़मुक्तेश्वर से अनूपशहर, बुलन्दशहर, फरुखाबाद होते हुए रामघाट पहुंचे। वहां एक सुविज्ञ ब्राह्मण पं० टीकाराम रहते थे। टीकाराम रहने वाले कर्णवास के थे, पर उन दिनों रामघाट आए हुए थे। पं० टीकाराम किसी से दयानन्द की चर्चा सुनकर उनकी सेवा में पहुंचे। वहां दयानन्द से वार्तालाप हुआ तो टीकाराम अनायास दयानन्द के बिना दाम के गुलाम बन गए। रोज ऋषि की सेवा में

उपस्थित होते, रोज धर्मालाप होता। धीरे धीरे टीकाराम के मन के सारे संशय दूर हो गए। उन्होंने अपने इष्टदेव की मूर्तियां गंगा में फेंक दी और वे पूर्णतः स्वामी जी के अनुगामी हो गए।

टीकाराम को जो धर्म का अक्षय कोश मिल गया था उसको उसने कृपण की तरह नहीं रखा, प्रत्युत कर्णवास जाकर अपने यमराज ठाकुर गोपाल सिंह आदि से स्वामी जी की अगाध विद्या की भूरि-भूरि प्रशंसा की और कहा कि मुझे स्वामी जी ने सन्ध्या-गायत्री और अग्निहोत्र का उपदेश दिया है, मैंने मूर्तिपूजा छोड़ दी है और अब मैं आपके मन्दिर में पुजारी का काम नहीं करूँगा।

कर्णवास के ठाकुर लोग अपने पुजारी की ऐसी बात सुनकर उस अद्भुत उस अद्भुत संन्यासी के दर्शन को उत्सुक हो उठे और स्वामी जी को लाने के लिए टीकाराज को रामधाट भेजा।

जब स्वामी जी कर्णवास आए तो उन की भव्य मूर्ति के दर्शन और उपदेश श्रवण कर क्षत्रिय वर्ग तथा अन्य सामान्य जन कृतकृत्य हो गए। स्वामी जी की यश की सुगंध चारों ओर तेजी से फैलने लगी।

राव कर्णसिंह से विवाद

बरौली के रईस राव कर्णसिंह गंगास्नान के लिए कर्णवास आए थे। वे वृन्दावन के वैष्णवाचार्य रंगाचार्य के शिष्य थे और मस्तक पर तिलक छाप लगाते थे। ख्याति सुनकर वे भी स्वामी जी के डेरे पर आए। स्वभाव के उग्र थे ही, इसलिए उन्हें पता लगा कि स्वामी जी तिलक छाप का खण्डन करते हैं तो वे अन्दर से उत्तेजित होकर स्वामी जी से बोले, 'तुम गंगा जी को नहीं मानते ?' स्वामी जी ने कहा, 'जितनी है, उतनी मानते हैं।' तब राव कर्णसिंह ने गंगा-स्तुति के कुछ श्लोक सुनाए।

स्वामी जी ने कहा कि पीने के पानी से या स्नान के पानी से मोक्ष नहीं मिलता। मोक्ष तो कर्म से मिलता है। फिर स्वामी जी ने उसके मस्तक के तिलक छाप की ओर संकेत करते हुए कहा, 'तुमने क्षत्रिय होकर मस्तक पर यह भिखारियों का चिह्न क्यों धारण किया है ?' इस कर्णसिंह ने उद्घण्डता प्रारम्भ की। स्वामी जी रौब में या धमकी में आने वाले नहीं थे। उत्तर में उन्होंने चंक्रादित सम्प्रदाय का खण्डन करते हुए इतना और कहा : 'तुम कैसे क्षत्रिय हो जो

रामलीला में लौड़ों का स्वांग भरवा, महापुरुषों की नकल उत्तरवा, उन को नचवाते हो।' इस पर कर्णसिंह आगबबूला हो गया। क्रोध में उनके नथुने फड़कने लगे और उस ने झपटकर अपने कटि प्रदेश में लटकती तलवार म्यान में से निकाल ली। वह वार करता, इससे पहले ही स्वामी जी उस की तलवार छीन कर उसके दो टुकड़े कर दिये और सिंह के समान गरजते हुए कहा—'अरे धूर्त ! यदि लड़ना है तो किसी क्षत्रिय राजा से जाकर लड़ और यदि शास्त्रार्थ करना है तो अपने गुरु रंगाचार्य को वृन्दावन से बुलवा लें।'

जिस समय यह घोर घटना घटित हुई उस समय स्वामी जी के पास कोई पचास मनुष्य बैठे थे। वे सब राव कर्णसिंह के कुकर्म की निन्दा करते हुए स्वामी जी के पास गए और कहने लगे कि राज कर्मचारियों को सूचना देकर इसका पूरा परिणाम निकलवाना चाहिए।

स्वामी जी ने कहा 'हम अभियोग कदापि न चलायेंगे। हमारा धर्म तो संतोष करना है। यदि वह अपने क्षत्रियत्व का पालन नहीं कर सका तो हम अपने ब्राह्मणत्व से क्यों गिरें। जो धर्म का हनन करता है अन्त में उस का अपना ही हनन हो जाता है।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।

(मनुस्मृति)

स्वामी जी महाराज ने कर्णसिंह की तलवार के दो टुकड़े करके और राव का हाथ पकड़ते हुए महान् मर्यादा की रक्षार्थ जो कहा था वह स्वर्णक्षरों में लिखा जाने योग्य है। उन्होंने कहा था—

‘क्या, तुम चाहते हो कि मैं भी आततायी पर प्रहार कर बदला लूँ। मैं संन्यासी हूँ तुम्हारे किसी भी अत्याचार से चिढ़कर तुम्हारा अनिष्ट चिन्तन न करूँगा। जाओ ईश्वर तुम्हें सुमति प्रदान करे।’

कुछ लोगों ने स्वामी जी से इस वारदात की सूचना पुलिस में देने का अनुरोध किया, तो स्वामी जी ने कहा—“यदि वह अपने क्षात्र धर्म का पालन न कर सका तो हम अपने संन्यास धर्म से विचलित क्यों हों?”

पर कर्णसिंह अपनी नीचता से बाज नहीं आया। उस ने स्वामी जी को मारने के लिए कुछ बदमाशों को पैसे का प्रलोभन देकर भेजा। परन्तु वे योगी की हुंकार सुनकर ही नौ दो ग्यारह हो गये। कर्णसिंह ने कुछ वैरागियों को भी

स्वामी जी को मारने के लिए भड़काया पर किसी की भी हिम्मत न पड़ी।

कर्णसिंह की इन हरकतों से स्वामी जी के भक्त-जन इतने उत्तेजित हो गए कि उन्होंने कर्णसिंह के बंगले को धेर लिया और उसे बाहर निकलने को ललकारा। तब कर्णसिंह के श्वसुर ठाठ० मोहनसिंह ने समझा बुझाकर कर्णसिंह को कर्णवास से भगा दिया। घर जाकर कर्णसिंह पागल हो गया, एक मुकद्दमे में हार गया और अन्त में उसे पक्षाघात हो गया।

हमारा रक्षक प्रभु है

स्वामी जी के साथ कुटिया में केथल सिंह नामक एक भक्त रहता था। उसने इन वारदातों को देखकर स्वामी जी को निवेदन किया—“महाराज यहाँ से भाग जाना चाहिए। यह जंगल खतरे से खाली नहीं है।” इस के उत्तर में स्वामी जी ने केवल श्लोक दुहराया—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं वलेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

आत्मा अमर है। न केवल इसे शस्त्र काट सकता है, न यह अग्नि में भस्म हो सकता है, न जल में बह सकता है और न वायु इसे उड़ा सकता है।

साधु लोग घरों और कोठियों में शरण नहीं लेते, परमात्मा उन की रक्षा करता है।

आत्म-प्रेम

एक दिन गंगा तट पर एक साधु कमण्डल आदि प्रक्षालन करके वस्त्र धोने में प्रवृत्त था। वह घुटा हुआ मायावादी था। दैवयोग से भ्रमण करते हुए स्वामी जी भी वहां पहुंचे। उस ने स्वामी जी को सम्बोधन करके कहा—“इतने त्यागी परमहंस, अवधूत होकर आप खंडन-मंडन का रूप प्रवृत्ति के जटिल जाल में क्यों उलझ रहे हो ? निर्लप होकर क्यों नहीं विचरते?” महाराज मुर्स्कराकर बोले—हम तो सब कुछ करते हुए भी निर्लेप हैं। रही प्रवृत्ति की बात सो शास्त्रीय प्रवृत्ति प्रजा प्रेम से प्रेरित होकर सब ही की करनी उचित है।

साधु जी ने कहा—‘प्रजा-प्रेम का नया बखेड़ा क्यों डालते हो ? आत्मा से प्रेम करो जिसके लिए श्रुति पुकार रही है। उस समय अपने मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य के संवाद

के वाक्य भी बोले। तब स्वामी जी ने पूछा—‘वह प्रेममय आत्मा कहां है?’ साधु ने कहा—‘वह राजा से लेकर रंक पर्यन्त और हस्ती से लेकर कीट तक सर्वत्र ऊँच-नीच में परिपूर्ण है।’

तत्पश्चात् स्वामी जी ने गंभीरता पूर्वक कहा—‘नहीं आप उस महान् आत्मा से प्रेम नहीं करते। आप को अपनी भिक्षा की चिन्ता है, अपने वस्त्र उज्जवल करने का ध्यान है। अपने भरण-पोषण का विचार है। क्या आपने कभी उन बन्धुओं का भी चिन्तन किया है जो आपके देश में लाखों की संख्या में भूख की चिंता पर पड़े हुए रात-दिन बारहों महीने भीतर ही भीतर जल कर राख हो रहे हैं। हजारों लोग ऐसे हैं जिन्हें पेट भर अन्न नहीं मिलता। उनके तन पर सड़े-गले, मैले-कुचैले चिथड़े लिपट रहे हैं। ऐसे कितने ही दीन-दुखिया भारतवासी हैं जिनकी सार-संभार कोई भूले-भटके भी नहीं लेता। बहुतेसे कुसमय में राजमार्गों में पड़े-पड़े पांव पटककर मर जाते हैं परन्तु उनकी बात तक पूछने वाला कोई नहीं मिलता। महात्मन्, यदि आत्मा से और विराट् प्रात्मा से प्रेम करना है तो अपने अंगों की तरह सब को अपनाना होगा। अपनी भूख मिटाने की तरह उन की भी चिन्ता करनी होगी।

सच्चा परमात्माप्रेमी किसी से घृणा नहीं करता। वह ऊँच-नीच की भावना को त्याग देता है। उतने ही पुरुषार्थ से दूसरों के दुःख मिटाता है, कष्ट क्लेश काटता है, जितने से वह अपने काटता है। ऐसे ज्ञानी जन ही वास्तव में आत्म-प्रेमी कहलाने के अधिकारी हैं। यह सुनकर वह साधु स्वामी जी के चरणों में गिर पड़ा।

कर्णवास से स्वामी जी अनूपशहर पहुंचे वहां चार मास तक रहे। उस समय कौपीनधारी ब्रह्मचारी दयानन्द की भव्य मूर्ति को जिन्होंने भी देखा, वे उसे कभी भूल नहीं सकते। लम्बा कद, सुगठित सुडौल शरीर, विशाल वक्षरथल, सुन्दर गौरवपूर्ण, प्रभावशाली चेहरा, शेर की आंख को भी झपका देने वाली आंखे, उन्नत और विशाल मस्तक। प्रतिदिन उपदेश होता तो बड़े-बड़े पण्डित अपने बुद्धिबल की परीक्षा करने आते, परन्तु सब मुंह की खाकर जाते।

स्वामी जी की वाणी के जादू से मूर्तियों को जल में प्रवाहित करने का सिलसिला और जोर पकड़ गया। तब मूर्तिपूजा जिन लोगों की आजीविका का साधन थी, उन्होंने निराशोन्मत्त होकर एक ब्राह्मण के द्वारा स्वामी जी को पान

मैं जहर दिलवा दिया। स्वामी जो को ज्यों ही इसका आभास हुआ कि विष दिया गया है त्यों ही उन्होंने योग की न्यौली क्रिया के द्वारा सब जहर बाहर निकाल दिया।

मैं संसार को कैद कराने नहीं आया

यह घटना जब वहां के तहसीलदार सैयद मुहम्मद को पता लगी तो उसने अपराधी को गिरफ्तार कर लिया। यह पूछने के लिए वह स्वामी जी के पास आया कि उस दुष्ट को क्या दण्ड दिया जाए। उसने सोचा था कि स्वामी जी इस बात से प्रसन्न होंगे, पर स्वामी जी ने मुंह फेर लिया और तहसीलदार से बात नहीं की। वह स्वामी जी का भक्त था। उसने स्वामी जी से इस नाराजगी का कारण पूछा। तब स्वामी जी ने उत्तर दिया वह इतिहास के पृष्ठों में स्वर्णाक्षरों से लिखने के योग्य है। वह उत्तर क्या है, स्वामी जी के जीवन-दर्शन को समझने की कुंजी है। स्वामी जी ने तहसीलदार से कहा—

“मैं संसार को कैद कराने नहीं आया, वरन् कैद से छुड़ाने आया हूं। यदि कोई दुष्ट अपनी दुष्टता न छोड़े, तो श्रेष्ठ अपनी श्रेष्ठता क्यों छोड़े।”

तहसीलदार ने स्वामी जी की आज्ञा से विष देने वाले उस ब्राह्मण को रिहा कर दिया ।

कर्णवास के ठाठ धर्मसिंह कुछ संस्कृत भी जानते थे । उन्होंने स्वामी जी के पास जाकर संस्कृत में अपना नाम, गोत्र आदि उच्चारण करके उन्हें नमस्कार किया । प्रत्युत्तर में आशीर्वाद देकर स्वामी जी ने जान लिया कि ये क्षत्रिय हैं और कुल की रीति के कारण अभी तक यज्ञोपवीत विहीन है । स्वामी जी ने दुखःपूर्वक कहा कि यहां के पंडित, पुरोहितों ने लोगों में भ्रष्टाचार फैलाया हुआ है । भला इससे बढ़ कर अनाचार और कुरीति और क्या होगी कि क्षत्रिय के पुत्रों के दाढ़ी-मूँछ मुंह पर निकलने लगी हैं परन्तु अभी तक यज्ञोपवीत नहीं हुआ । इन्हीं अधर्माचरणों के कारण यह देश दिनों दिन अधोगति को प्राप्त हो रहा है । इस प्रकार स्वामी जी ने नवयुवकों की उपनयन के लिये बड़ा प्रोत्साहित किया ।

कर्णवास से स्वामी जी अतरौली, जलसेर, सोरों, पीलीभीत, शहबाजपुर और कायमगंज होते हुए फर्रुखाबाद पहुंचे ।

व्याकरण सूर्य अस्त

शहबाजपुर में स्वामी जी को अपने गुरु दण्डी स्वामी विरजानन्द जी के स्वर्गवास का समाचार मिला। स्वामी जी के मुख से हठात् ये शब्द निकले : 'आज व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया।' स्वामी जी ने धार्मिक क्षेत्र में जो कार्य किया उसमें दण्डी जी का श्रेय कम नहीं है। इसलिए स्वामी जी को अपने गुरु के प्रति अगाध भक्ति थी।

फर्रुखाबाद में स्वामी जी काफी दिनों तक रहे। वहां उन्होंने बलपूर्वक कुरीतियों और अन्धविश्वासों का खण्डन किया। वहां गोपाल नाम का एक पण्डित शास्त्रार्थ के लिए आया, पर जब स्वामी जी के सामने उसकी कुछ पेश न चली, तो वह बनारस जाकर वहां के पण्डितों से मूर्तिपूजा के पक्ष में व्यवस्था ले आया।

जनता पर इस व्यवस्था का भी कोई असर न हुआ। तब स्वार्थी व्यक्तियों ने कानपुर से पं० हलधर ओझा को बुलवाया। ओझा व्याकरण का अच्छा विद्वान् था, इसलिए वह जानबूझ कर शास्त्रार्थ के विषय को खींचकर व्याकरण की परिधि में ले गया। उसे पता नहीं था कि दयानन्द भी

'व्याकरण के सूर्य' का अनुपम शिष्य ही नहीं, स्वयं भी व्याकरण का दिग्गज विद्वान् है। ओङ्जा की व्याकरण में भी हार हुई और इस तथ्य को वहां के सब पण्डितों ने स्वीकार किया।

प्रथम संस्कृत पाठशाला की स्थापना

तब भक्तों ने वेद-वेदांग की शिक्षा के लिए स्वामी जी से एक संस्कृत पाठशाला स्थापित करने का अनुरोध किया। पाठशाला स्थापित हो गयी। उस पाठशाला के बालकों ने स्वामी जी सुनी हुई युक्तियों के आधार पर गली-गली और कूचे-कूचे में पौराणिक पंडितों की नाम में दम कर दिया।

शिक्षा :—

- कहने-सुनने-सुनाने, पढ़ने-पढ़ाने का फल यही है कि जो वेद और वेदानुकूल स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म है उस पर आचरण करना। इसलिए धर्माचार में सदा युक्त रहे। —मनु०
- जो वेद और वेदानुकूल प्राप्त पुरुषों के किए शास्त्रों का अपमान करता है उस वेद निन्दक को जाति पंक्ति और देश से बाहर कर देना चाहिए। —मनु०

- जो पुरुष अर्थ=सुवर्णादि रत्न और काम=स्त्री सेवनादि में नहीं फंसते, उन्हीं को धर्म का ज्ञान प्राप्त होता है। जो धर्म के ज्ञान की इच्छा करें वे वेद द्वारा धर्म का निश्चय करें क्योंकि धर्माधर्म का निश्चय बिना वेद के ठीक-ठीक नहीं होता ।
- जो सदा, नम्र, सुशील, विद्वान् और वेदों की सेवा करता है उसका आयु, विचार, कीर्ति और बल ये चार सदा बढ़ते हैं जो ऐसा नहीं करते उनके आयु आदि चार नहीं बढ़ते ।

—मनु०

एक सरवरिया धुरन्धर पंडित उन्हीं दिनों में फरुखाबाद में आया था । उस को वहां एक पंडित ने कहा कि बहुत लोग दयानन्द को ईसाइयों का एजेण्ट बताते हैं । चलो किसी समय उनके पास चलें और इस बात का पूरा पता लगाएं । दोनों स्वामी जी के पास आए । सरयूपारी पंडित ने स्वामी जी से अनेक श्रौत, स्मार्त, दार्शनिक प्रश्न पूछे, उन का उत्तर पाकर वह परम तृप्त हो गया और बोला भगवान् हम ने सुना था कि आप कपट वेशी प्रच्छन्न ईसाई हैं परन्तु दर्शकों से पता लगा कि आप एक धर्मावतार हैं ।

हलधर ओङ्गा से निर्णायक शास्त्रार्थ

फरुखाबाद से दयानन्द कानपुर पहुंचे। वहां गंगा के तट पर आसन जमाया। जैसे मधु की प्यासी मक्खियां फूलों के चारों ओर एकत्रित हो जाती हैं, वैसे ही धर्म की प्यास बुझाने के लिए जनता विश्राम घाट की ओर उमड़ने लगी। इस से पौराणिक मण्डली में फिर खलबली मच गई। सेठ-साहूकारों ने प्रभूत धन व्यय करके पण्डितों को इकट्ठा किया। फरुखाबाद की चोट से घायल हलधर ओङ्गा भी अपनी नष्ट हुई कीर्ति को पुनः स्थापित करने की इच्छा से दल-बल सहित उपस्थित हो गया। कानपुर के ज्वाइंट मजिस्ट्रेट मिठो डबल्यू. थैन की अध्यक्षता में, लगभग पचास हजार लोगों की उपस्थिति में, स्वामी जी और पण्डित हलधर ओङ्गा के मध्य शास्त्रार्थ हुआ। पर ओङ्गा की यहां भी दाल नहीं गली। अध्यक्ष ने स्वामी जी के विजय की घोषणा की।

कानपुर में अपनी विजयपताका फहराकर दयानन्द ने काशी की ओर प्रस्थान किया।

भारत में चिरकाल से विद्या के केन्द्र के रूप में काशी (बनारस, वाराणसी) प्रसिद्ध हैं। व्याकरण, दर्शन और वेद-वेदांग

के अध्ययन के लिए भारत के प्रत्येक भाग से हजारों विद्यार्थी यहां विद्याध्ययन के लिए आते रहते हैं। सैकड़ों विद्वान् त्याग-पूर्वक अहर्निश विद्यादान में लगे रहते हैं। स्वामी जी यह भली-भांति समझ लिया था कि सारे भारत में प्रसूत विचार धारा का मूल गढ़ काशी है, इसलिए काशी के पण्डित आदि किसी प्रकार वैदिक धर्म का सत्य स्वरूप हृदयंगम कर लें तो देश-देशान्तर से आए सैकड़ों विद्यार्थी विद्या पढ़ने के पश्चात् अपने-अपने प्रदेशों में जाकर एक धर्म, एक भाषा, एक आचार-विचार और एक रीति-नीति का प्रचार करके सारे देश को एकता के सूत्र में पिरो सकते हैं।

काशी में दयानन्द २२ अक्टूबर, १८६६ को पहुंचे थे। उनके आगमन का समाचार जंगल की आग की तरह सर्वत्र फैल गया। पण्डित-मण्डली और जन-सामान्य दोनों के अपने-अपने ढंग की प्रतिक्रिया होने लगी। कुछ पण्डित प्रकट रूप से उपहास करते, पर मन के अन्दर अपने पक्ष की निर्बलता को भाँपकर सहम जाते। उत्पाती लोगों को अपना करतब दिखाने का एक और अवसर हाथ आया लगता। सैकड़ों लोग प्रतिदिन उनकी शास्त्र-चर्चा सुनते आते। कुछ संतुष्ट होते, कुछ असंतुष्ट। दिन भर उनके यहां

मेला-सा लगता रहता। मूर्तिपूजा के गढ़ में आकर कोई मूर्तिपूजा के खण्डन का साहस करे, यह अनहोनी घटना थी। दयानन्द के आगमन से काशी-नगरी आनंदोलित हो उठी। हर एक की जबान पर दयानन्द की ही चर्चा रहने लगी।

काशी शास्त्रार्थ

दयानन्द ने काशी-नरेश को कहला भेजा कि यदि सत्यासत्य का निर्णय करना चाहते हो, तो अपने पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए तैयार करो। पण्डितों ने कहा कि दयानन्द तो वेद की दुहाई देता है और वेद के सिवाय किसी और ग्रन्थ का प्रमाण स्वीकार नहीं करता, हमें १५ दिन की मोहलत दीजिए ताकि हम वेदों में से प्रमाण खोज सकें। मोहलत दे दी गयी। पण्डित-मण्डली शास्त्रार्थ की तैयारी करने लगी। कोई कोई पण्डित अपने शिष्यों को भेजकर दयानन्द के पाण्डित्य की थाह लेने का प्रयत्न करने लगे। जब शिष्यों से पता लगा कि दयानन्द अगाध विद्या का धनी है, तो पण्डित लोग और जोर शोर से शास्त्रार्थ के दंगल की तैयारी में जुट गये।

१५ दिन बीत गये। १६ नवम्बर, १८६६ का दिन था। आनन्द बाग में, जहां स्वामी जी ठहरे थे, शास्त्रार्थ का आयोजन हुआ। दालान की खिड़की में स्वामी जी के लिए और सामने काशी के पण्डितों के लिए आसन लगाया गया। तीसरा आसन काशी नरेश के लिए लगा। काशी नरेश की ओर पण्डितों के लिए शास्त्रार्थ के स्थान पर पहुंचने को पालकी, छात्र, चंवर तथा अन्य तामज्ञाम की व्यवस्था की गई ताकि जनता पर उन की शान-शौकत और आडम्बर का प्रभाव पड़े।

एक तरफ थी अपने सैकड़ों शिष्यों से और हजारों अन्ध अनुयायियों से घिरी पण्डित-मण्डली और दूसरी तरफ था अकेला बालब्रह्मचारी कौपीनधारी दयानन्द। विद्या ही जिसका शस्त्र था, सत्य ही जिसका किला था और केवल परमात्मा ही जिसका एकमात्र सहायक था। सभामण्डप का प्रबन्ध शहर कोतवाल रघुनाथ प्रसाद के हाथ में था।

विरोधियों की अक्षौहिणी सेना ने शास्त्रार्थ के स्थान पर आने के सब रास्ते छेक दिए। सभामण्डप को चारों ओर से घेर लिया। लगभग पचास हजार विरोधियों ने शास्त्रार्थ से

पहले सनातन धर्म की जय के नारे लगाने प्रारम्भ कर दिये। सभा में शान्ति बनाये रखने के सब नियमों का वे उल्लंघन करने लगे। कोतवाल ने जब देखा कि स्वामी जी के विरोधियों में शहर के असामाजिक तत्त्वों की संख्या भी काफी है, तब उसे चिन्ता हुई। परन्तु कौपीनधारी दयानन्द के हाथ में विद्या की तलवार, और सत्य की ढाल थी, उसे भय कैसा !

शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। जैसे बीसियों प्रचण्ड बरसाती नाले किसी पहाड़ी चट्टान से टकराते हैं, वैसे ही हरेक पण्डित अपनी बल परीक्षा कर रहा था। परन्तु प्रत्युत्पन्नमति संन्यासी काबू नहीं आता था। प्रश्न रूपी तीरों की अनवरत बौछार हो रही थी, पर तर्क-धनुर्धर दयानन्द उन तीरों को बीचमें ही काट फेंकता था और साथ ही अपने तीर छोड़ता जाता था। उस के लक्ष्यवेधी धनुष से फेंके हुए अमोघ बाण प्रतिपक्षियों के कवचों में छेद करते जाते थे।

प्रतिपक्षियों में स्वामी विशुद्धानन्द, पण्डित ताराचरण तर्क रत्न, बालशास्त्री, राजाराम शास्त्री, वामनाचार्य, और माधवाचार्य आदि उस समय के काशी के धुरन्धर विद्वान् सम्मिलित थे। दयानन्द अकेला सबसे लोहा ले रहा था।

जो सामने आता, वही चारों खाने चित्त होता दिखाई देता। स्वामी जी बारम्बार यही पूछते कि वेद में मूर्तिपूजा का विधान कहां है। पण्डित-मण्डली इस मुख्य प्रश्न का उत्तर देने में अपने को असमर्थ पाकर विवाद को अवान्तर विषय की ओर खीचने का प्रयत्न करती पर दयानन्द की प्रतिभा अवान्तर विषयों में जो उन के छक्के छुड़ा देती।

तब पण्डितों ने चालाकी की शरण ली। कुछ पन्ने स्वामी जी के हाथ में देकर कहा कि इन में मूर्तिपूजा का विधान है, आप पढ़ लीजिए।

स्वामी जी ने पन्ने हाथ में ले लिए। तब तक अंधेरा हो चुका था। लालटेन मंगवाई गई। उस की रोशनी बड़ी मद्दिम थी। पन्नों की लिखावट भी अस्पष्ट थी। स्वामी जी उस स्थल को पढ़ने का प्रयत्न कर रहे थे कि सारी पण्डित-मण्डली उठ खड़ी हुई। स्वामी जी समझ गये कि धूर्तता हो रही है। उन्होंने विशुद्धानन्द का हाथ पकड़ कर कहा—‘बैठ जाइए। निर्णय किए बिना ही बीच में उठ जाना आप जैसे विद्वानों को कदापि उचित नहीं।’ पर विशुद्धानन्द नहीं बैठे और बोले—‘अब रहने दीजिए, जो होना था, वह हो चुका।’

पण्डितों का इशारा पाकर काशी-नरेश भी उठ खड़े हुए और उन्होंने ताली पीट दी। फिर क्या था। जन-समूह तो इसी संकेत की प्रतीक्षा में था। सब ने खड़े होकर 'सनातन धर्म की जय' के नारे लगाने प्रारम्भ कर दिए कोतवाल ने काशी-नरेश से कहा—'आपने ताली पीटकर बहुत अनुचित किया है। यह सभा के नियमों के विपरीत है।' नरेश ने कोतवाल को समझाया—'हम-तुम सभी मूर्तिपूजक हैं। इसलिए अपने सामान्य शत्रु को जैसे भी हो, पराजित करना ही चाहिए।' यह कह कर काशीनरेश वहां से चले गए। अब जनता को मनमानी करने की छूट मिल गयी। स्वामी जी पर लकड़ी, कंकड़-पत्थर और गोबर-मिट्टी आदि फेंके जाने लगे। तब कोतवाल ने अपने कर्तव्य का पालन करते हुए स्वामी जी को खिड़की के भीतर करके किवाड़ की ओट से कर दिया और सिपाहियों को गुण्डे से निपटने का आदेश दिया। यदि रघुनाथप्रसाद कोतवाल ने उस दिन अपने कर्तव्य के पालन में कुछ भी ढील की होती तो स्वामी जी के क्षत-विक्षत हो जाने में सन्देह नहीं था।

प्रतिपक्षियों ने सर्वत्र समाचार भेज दिया कि दयानन्द परास्त हो गया और विरोध में विज्ञापन भी निकाला। परन्तु शास्त्रार्थ की वास्तविकता जनता की आंखों से ओझल न रही। जनता और अधिक उत्सुकता से सन्यासी के उपदेश सुनने के लिए आने लगे। प्रत्यक्षदर्शी निष्क्र महानुभावों ने पण्डितों की दम्भपूर्ण चालाकी की पोल खोल दी और दयानन्द को विजयी ठहराया।

देश-देशान्तर में इस शास्त्रार्थ का संवाद हवा की तरह फैल गया और स्वामी जी के पाण्डित्य का कीर्ति-सौरभ भी अपने साथ ले गया। चारों ओर दयानन्द की धाक बैठ गई।

द्वितीय संस्कृत पाठशाला की स्थापना

बनारस से स्वामी जी मिरजापुर गए। मिरजापुर में पं० गोपालभट्ट और पं० जयश्री से शास्त्रार्थ हुआ। इन पण्डितों की पराजय से जनता इतनी उत्साहित हुई कि उस ने स्वामी जी से एक वैदिक पाठशाला खोलने की प्रार्थना की। स्वामी जी ने पाठशाला खोल दी और उस में पढ़ाने वाले अध्यापकों की भी व्यवस्था कर दी।

वहां से स्वामी जी सोरों, कासगंज, अनूपशहर, छलेसर

और रामघाट होते हुए पुनः बनारस पहुंचे। इस बार जब काशी-नरेश को स्वामी जी के आगमन का समाचार मिला तब उसने उन से मिलने की अनुमति मांगी और अपने स्थान पर उन को लाने के लिए यथासमय गाड़ी भेज दी। स्वामी जी जब पहुंचे तब नरेश ने खड़े होकर उन का स्वागत किया। श्रद्धाभवित्त-पूर्वक नमस्कार किया, अन्दर ले जाकर स्वर्ण-सिंहासन पर बैठाया। गले में पुष्पमाला पहनाई और हाथ जोड़ कर स्वामी जी से निवेदन किया : 'भगवन् ! चिरकाल से मूर्तिपूजा में हमारी श्रद्धा है, इसी कारण शास्त्रार्थ के समय आपकी अवज्ञा हो गई थी। आप संन्यासी हैं, क्षमा कर देंगे।' स्वामी जी ने कहा कि 'हमारे मन में उस का लेशमात्र भी मलाल नहीं है।' काशी-नरेश ने उचित भेंट और आदर-सत्कार के साथ स्वामी जी को विदा किया।

कलकत्ता प्रस्थान और धर्मप्रचार

स्वामी जी बनारस से मुगलसराय आए तो वहां कुछेक बंगाली रेल कर्मचारियों ने उन से कलकत्ता चलने का आग्रह किया।

स्वामी जी डुमरांव, आरा, पटना मुंगेर और भागलपुर होते हुए १६ दिसम्बर, १८७२ को कलकत्ता पहुंचे। स्वामी जी

को कलकत्ता लाने के लिए बैरिष्टर चन्द्रशेखर ने विशेष प्रयत्न किया था। स्वामी जी को पहले विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के उद्यान में ठहराने की व्यवस्था थी। परन्तु स्वामी जी को कलकत्ता में आमन्त्रित करने वाले ब्रह्मसमाजियों में अपने आन्तरिक मतभेद थे, इसलिए अन्ततः स्वामी जी को राजा सौरेन्द्रमोहन के प्रमोद कानन में, जो राजा साहब द्वारा सुरुचिपूर्ण कलावस्तुओं के संग्रह के कारण उस समय का प्रसिद्ध उद्यान था, ठहराया गया। इस उद्यान में ही स्वामी जी के उपदेश होने लगे।

बाबू केशवचन्द्र सेन से भेंट

स्वामी जी जब कलकत्ता पहुंचे तब केशवचन्द्रसेन बाहर गए हुए थे। केशवचन्द्र सेन कलकत्ता आए तो स्वामी जी के पदार्पण का समाचार मिला। स्वामी जी के पास मिलने के लिए पहुंचे और अपना परिचय दिए बिना देर तक बात करते रहे। वार्ता की समाप्ति पर बाबू केशवचन्द्रसेन ने स्वामी जी से पूछा—‘क्या आप कभी केशवचन्द्र सेन से मिले हैं?’ स्वामी जी ने कहा—‘हाँ।’ सेन महाशय ने पूछा—‘कब?’ स्वामी जी ने उत्तर दिया—‘अभी।’ चकित होकर केशव बाबू ने पूछा कि यह आपने कैसे जाना कि मैं ही

केशवचन्द्रसेन हूं। स्वामी जी ने कहा—‘जैसी बातें आपने की हैं वैसी कोई दूसरा न करता।’ इस के बाद केशव बाबू की और स्वामी जी की खूब घनिष्ठता हो गई।

उस समय स्वामी जी की विचारगोष्ठी में जो लोग सम्मिलित होते उन में केशवचन्द्र सेन के अलावा आदि ब्रह्मसमाज के प्रसिद्ध उपदेशक पण्डित हेमचन्द्र चक्रवर्ती, बैरिस्टर चन्द्रशेखर सेन, राज नारायण वसु, डा० महेन्द्रलाल सरकार, हेमेन्द्रनाथ टैगोर, द्विजेन्द्रनाथ टैगोर आदि लोग थे जो बंगाल के समकालीन प्रबुद्ध और प्रगतिशील समाज का न केवल नेतृत्व करते थे, प्रत्युत उस प्रदेश की प्रतिभा और पाण्डित्य का भी प्रतिनिधित्व करते थे।

बाबू केशवचन्द्र और स्वामी दयानन्द दोनों ही महापुरुष देश-हित की भावना से प्रेरित थे, दोनों ही अद्भुत वक्ता थे, दोनों ही जनता पर बिजली का सा असर करने की शक्ति रखते थे। इस समानता से दोनों में घनिष्ठता बढ़ती गई।

इस का परिणाम यह हुआ कि केशवचन्द्र सेन ने अपने निवास स्थान पर भी स्वामी जी के व्याख्यान का आयोजन किया। श्री सेन के घर पर हुए प्रवचनों में सम्मिलित होने

वाले व्यक्तियों में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, कलकत्ता के संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल श्री महेश चरण न्यायरत्न और राजनारायण वसु आदि प्रमुख थे।

लोगों को अपनी ओर खींचने की चुम्बकीय शक्ति और असाधारण प्रतिभा के धनी इन दोनों महापुरुषों का परिचय ज्यों-ज्यों प्रगाढ़ होता गया, त्यों-त्यों दोनों एक दूसरे के विचारों का आदर करने लगे।

हिन्दी में प्रचार आरम्भ

अब तक दयानन्द केवल कौपीन धारण करते थे और भाषण भी केवल संस्कृत में ही देते थे, पर केशवचन्द्र सेन के परामर्श से स्वामी जी ने अन्य वस्त्र पहनना स्वीकार कर लिया और अपने विचारों को अधिकतम जनता तक पहुंचाने के लिए भाषण भी लोकभाषा हिन्दी में देना प्रारम्भ कर दिया।

बाबू केशवचन्द्रसेन और स्वामी दयानन्द के विचारों में किसी हद तक समानता थी। पर असमानता भी कम नहीं थी। एक की दृष्टि पश्चिम की ओर थी और दूसरे की पूर्व की ओर। एक हृदय-प्रधान था, दूसरा बुद्धि-प्रधान। एक

यूरोप की वैज्ञानिक उन्नति से चकित था और यूरोप के अनुगमन का हामी था और दूसरा ब्रह्मा से लेकर जैमिन मुनि पर्यन्त प्रचलित वेदादि सत्य-शास्त्रों के अनुगमन में ही भारतीय प्रजा का कल्याण समझता था।

दोनों की मनोवृत्तियों का अन्तर बताने के लिए इस घटना का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। एक बार बाबू केशवचन्द्र सेन ने स्वामी जी से कहा था, 'शोक है कि वेदों का अद्वितीय विद्वान् अंग्रेजी नहीं जानता, नहीं तो यूरोप-यात्रा के समय वह मेरा कितना मन के अनुकूल साथी होता।' इस पर स्वामी जी ने उत्तर दिया था : 'शोक है कि ब्रह्मसमाज का नेता संस्कृत नहीं जानता और लोगों को उस भाषा में उपदेश देता है जिसे वे नहीं समझते।'

प्राच्यविद्या के जिज्ञासु मनीषियों द्वारा स्थापित रायल एशियाटिक सोसायटी में भी स्वामी जी गए। वहां पूर्व और पश्चिम के अनेक विद्वानों से उन की भेंट हुई। स्वामी जी ने एशियाटिक सोसायटी से कुछ पुस्तकें भी खरीदीं।

कलकत्ते के धर्म तत्त्व नामक समाचार-पत्र ने स्वामी जी महाराज के कलकत्ता पधारने और वहां किए गए प्रचार की प्रशंसा में (चैत्र १, संवत् १९८४ शाके संवत्) लिखा था—

‘सुप्रसिद्ध स्वामी दयानन्द सरस्वती कलकत्ता में आए हुए हैं। वे आर्यशास्त्रों के प्रकांड पंडित हैं। वे मूर्तिपूजा के विरोधी हैं। अद्वैतवाद का खंडन करते हैं। उन का एकमात्र निराकार परमेश्वर में विश्वास है। उन को केवल ईश्वरीय ज्ञान, वेद में आरथा है।’

वह विधवा-विवाह का समर्थन और बाल-विवाह का खंडन करते हैं। वह जन्म की जात-पांत को नहीं मानते। गुण कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था के पक्षपाती हैं। पुनर्जन्म में भी उन की आरथा है।

वह बड़े विद्वान् सभ्य और चरित्रमान् हैं। संस्कृत उन की मातृ-भाषा बन गई है। उनके साथ वार्तालाप करने पर लोग संतुष्ट होकर लौटते हैं।

महर्षि देवेन्द्रनाथ ने स्वामी जी महाराज से अपने निवास स्थान पर ठहरने की प्रार्थना की जिसे स्वामी जी ने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि उन का नियम किसी गृहस्थी के घर पर ठहरने का नहीं है।

अमृतबाजार पत्रिका ‘कलकत्ता के सुप्रसिद्ध दैनिक-पत्र’ के सम्पादक ने ब्रह्मसमाज में दिए स्वामी जी के भाषण को सुनकर अपने अखबार में लिखा था—

'स्वामी दयानन्द के कलकत्ता पधारने पर तमाम शहर में हलचल भव गई है। बूढ़े या जवान, स्त्री वा पुरुष सभी में दिलचरणी सी पैदा हो गई है। आश्चर्य इस बात का है कि संस्कृत में अत्यन्त सरल एवं मधुर भाषण दिया जा सकता है।'

सम्पादक महोदय स्वामी जी के इस कथन से भी बड़े प्रभावित हुए थे कि 'अंग्रेजी और फारसी भाषाएं अमीरों के पुत्रों को ले उड़ी हैं और गरीबों के बच्चे संस्कृत के लिए रह गए हैं।'

टैगार निवास पर

जब कलकत्ता ब्रह्मसमाज का उत्सव आया तो श्री द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर स्वामी दयानन्द को जोड़ा-साकी स्थित अपने भवन में लाए जो टैगोर परिवार का प्रसिद्ध निवास-स्थान था। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने स्वामी जी का सत्कार किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर उस समय बालक ही थे। यही रवीन्द्रनाथ ठाकुर आगे चल कर 'गीतांजलि' पर नोबल पुरस्कार प्राप्त करके और अपनी कवित्य-प्रतिभा से संसार को चकित करके विश्वकवि कहलाए। स्वामी जी ने बालक रवीन्द्र को गायत्री मंत्र का उपदेश दिया।

महर्षि देवेन्द्रनाथ का चित्र देखकर स्वामी जी ने कहा था कि इस व्यक्ति के मुख पर ऋषियों की परम्परा के प्रति अनुराग झलकता है।

'धर्म तत्त्व' नामक समाचार-पत्र ने स्वामी जी महाराज के भाषणों का सार देते हुए उनके महान् व्यक्तित्व के प्रति प्रशंसात्मक उद्गार प्रकट किए थे—

"महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से नितान्त अपरिचित हैं तथापि समर्त विषयों पर उन के प्रवचन एवं व्याख्यान इतने विशिष्ट होते हैं कि लोगों की बोलती बन्द हो जाती है। उन की शिक्षा है कि एकमात्र परमात्मा की पूजा से ही जो विशुद्ध निराकार और महान् चेतन सत्ता है, मुक्ति संभव हो सकती है, पूजा का अर्थ है मन की शुद्धि, इन्द्रिय संयम, प्रभु के गुणों का ध्यान, स्तुति, प्रार्थना और धर्माचरण। उन का यह भी कहना है कि भारत का कोई भी निवासी हिन्दू नाम से सम्बोधित नहीं होना चाहिए। मूर्ख ब्राह्मण शूद्र की और उन्नत शूद्र ब्राह्मण की कोटि में रखा जाना चाहिए। स्त्रियों को रसायन शास्त्र, संगीत और चिकित्सा विज्ञान की विशेष शिक्षा मिलनी

चाहिए। और इस बात का ज्ञान भी होना चाहिए कि कौन सा खाना स्वारक्ष्य, बल और मन की शुद्धि के लिए उपयुक्त व अनुपयुक्त है। बड़े-बड़े अहंकारी प्रतिदिन सहज ही में स्वामी दयानन्द से पराजित हो जाते हैं। हिन्दुओं में स्वामी दयानन्द जैसे व्यक्ति का होना आश्चर्यजनक लगता है। वह सायण के वेद भाष्य का खंडन तर्क एवं प्रमाणों से करते हैं। अज्ञानवश, इन्द्र, अग्नि और वरुण आदि का अर्थ देवता लगाया गया है। इन्द्र का वास्तविक अर्थ सर्वशक्तिमान है। अग्नि का अर्थ उपार्थ है। वरुण का अर्थ सर्वश्रेष्ठ है। एकमात्र परमात्मा ही सर्वशक्तिमान् एवं सर्वश्रेष्ठ है। दयानन्द केवल भाषण ही नहीं देते हैं, उनमें वीरता, महत्ता, उदारता और उच्च संकल्प भी दृष्टिगोचर होते हैं। उन का अपने पर पूर्ण कन्द्रोल है। वह अपना समय प्रार्थना, उपासना, स्वाध्याय, व्यायाम, योग और धार्मिक प्रवचनों में व्यतीत करते हैं। उन का वेदों एवं पुनर्जन्म में अटूट विश्वास है। परमात्मा उन की इच्छा को पूर्ण करे। उनके माध्यम से हिन्दू जाति का पुनरुद्धार होगा।

रामकृष्ण परमहंस से भेंट

बंगाल के इस प्रवास में स्वामी जी की भेंट रामकृष्ण परमहंस से भी हुई। ये वही रामकृष्ण परमहंस थे जिनके द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन आज भी देश-विदेश में अपनी समाज-सेवा, विद्या-प्रचार और अध्यात्म-निष्ठा के लिए विख्यात है। इन्हीं रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो के विश्वर्धम सम्मेलन में हिन्दुत्व और भारतीय संस्कृति का नाद गुंजाया था और अमरीका में अद्भुत लोकप्रियता प्राप्त की थी।

स्वामी विवेकानन्द जैसे अपने गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस के अप्रतिम तेजस्वी शिष्य थे, वैसे ही स्वामी दयानन्द भी अपने गुरु दण्डी स्वामी विरजानन्द के अप्रतिम तेजस्वी शिष्य थे। इन दोनों शिष्यों ने अपने कर्तव्य से अपने गुरुओं का नाम भी अमर कर दिया।

दयानन्द से भेंट होने पर रामकृष्ण परमहंस ने उन्हें अपनी छाती से लगाया और बाद में यह उद्गार व्यक्त किया। “इस व्यक्ति के हृदय में स्वदेश और स्वर्धम के प्रेम की अग्नि अहर्निश प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित रहती है।”

कलकत्ता से स्वामी जी हुगली पहुंचे। उस समय हुगली कालेज के प्रिंसिपल थे पादरी बिहारी लाल दे। श्री दे स्वामी जी से पूर्व-परिचित थे। मुगलसराय में उन से मिल चुके थे। ये महाशय ईसाई होने पर भी भारतीयता के हासी थे। अंग्रेजी के धुरंधर विद्वान् थे और अंग्रेज प्रोफेसरों को अंग्रेजी की गलतियां बताया करते थे। श्री दे ने वर्णभेद के सम्बन्ध में स्वामी जी से वार्तालाप किया और अपने पक्ष की असत्यता स्वीकार की।

हुगली में शास्त्रार्थ

हुगली में ही काशी-नरेश के राजपण्डित पं० ताराचरण तर्करत्न से स्वामी जी का शास्त्रार्थ हुआ।

पं० ताराचरण ने शास्त्रार्थ की समाप्ति पर अन्य पण्डितों के सामने ही स्वामी जी से काशी शास्त्रार्थ के समय हुई अशोभन घटना के लिए क्षमा मांगी। वे स्वामी जी से गले मिले और उन से कहा कि मैं स्वयं भी सत्य शास्त्रों का ही समर्थक हूं और मानता हूं कि मूर्तिपूजा अवैदिक है, पर यदि सत्य-सत्य कह दूं तो मेरी जीविका चली जाए और काशीराज मुझे बाहर कर देंगे।

वृन्दावन नामक सम्प्रांत व्यक्ति स्वामी जी को हुगली ले गए थे और उन्हें अपने बगीचे में ठहराया था। वृन्दावन महाशय एक बहुत बड़े भूमिहार थे। उन की बड़ी प्रतिष्ठा थी। स्वामी जी का निवास उन के स्थान में सुनकर हजारों लोग सत्संग में सम्मिलित होने लगे थे। इस बगीचे में सत्संग के मध्य हजारों लोगों की उपस्थिति में महाराज का पं० नारायण जी के साथ भी शास्त्रार्थ हुआ था। यह शास्त्रार्थ संवत् १६२६ में बड़े समारोह के साथ हुआ था।

लोग स्वामी जी के सुन्दर मुख कमल को देखते तृप्त न होते थे। उन के विकसित व विशाल नेत्र कृपा-रस से पूर्ण होते थे। उन में कोई अपूर्व आकर्षण था। कोई मोहिनी शक्ति थी। उन की नाक उन्नत और अत्यन्त सुन्दर थी, दोनों भौंहे अतीव सुहावनी थीं और उन के ऊपर अर्ध चन्द्राकार माथा बहुत सुन्दर प्रतीत होता था। उन का शरीर अत्यन्त सुगठित और सुडौल था। उन के कन्धे परिपुष्ट थे। उन के दोनों हाथ हाथी की सूँड की तरह लम्बे थे। उन के हाथ की हथेलियाँ लम्बी तपते तवे की तरह दीखती थीं। उन का वक्षरथल विस्तृत और पुष्ट था। उन का प्रत्येक अंग प्रत्यंग उन के मनोहर रूप के अनुरूप था।

बिहार में छपरा में शास्त्रार्थ

कलकत्ता में जनता का हृदय जीतने के पश्चात् स्वामी जी ने बिहार की ओर मुख किया। पटना में स्वामी जी आठ दिन रहे और वहां उन्होंने शास्त्रार्थ के लिए विज्ञापन भी दिया, पर कोई पण्डित शास्त्रार्थ के लिए उपस्थित नहीं हुआ। पटना से स्वामी जी छपरा पहुंचे।

छपरा में वहां के प्रतिष्ठित व्यक्ति राम शिवगुलाम साह बहादुर ने स्वामी जी का स्वागत किया और अपने विशाल सुसज्जित भवन में ठहरा कर उन का प्रेमपूर्वक आतिथ्य किया।

पं० जगन्नाथ छपरा के प्रसिद्ध पण्डित थे। पौराणिकों ने अपनी लाज बचाने के लिए उन को स्वामी जी से शास्त्रार्थ के लिए प्रेरित किया। परन्तु वे कहने लगे कि दयानन्द नास्तिक है, उस का मुख देखने से मुझे पाप लगेगा और मुझे इस का प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। जब स्वामी जी को यह पता लगा तो उन्होंने इस उलझन से बचने का यह उपाय बताया कि बीच में एक पर्दा डाल दिया जाये जिस से दोनों मे से कोई एक दूसरे का मुख न देख सके और शास्त्रार्थ सुचारू रूप से चल सके।

वहां भी यही किया गया। शास्त्रार्थ हुआ पर जगन्नाथ के संस्कृत भाषण में व्याकरण की अनेक अशुद्धियाँ थीं। स्वामी जी ने उन अशुद्धियों की ओर संकेत किया तो जनता को विश्वास हो गया कि पण्डित जगन्नाथ की विद्वत्ता की केवल भभकी ही भभकी है। उस के बाद स्वामी जी ने लगातार चार घण्टे तक धारा-प्रवाह सरल संस्कृत में भाषण दिया जिसे सुनकर पौराणिक पंडित भी कहने लगे कि संस्कृत का विद्वान् हो तो ऐसा हो।

काशी में पाठशाला की स्थापना

बिहार से स्वामी जी फिर काशी आए और वहां पाठशाला की स्थापना की, जिसका नाम रखा गया—सत्यशास्त्र पाठशाला। पं० शिवकुमार शास्त्री इस पाठशाला के अध्यापक नियुक्त किए गये जिन की बाद में काशी में काशी के दिग्गज पंडितों में गिनती हुई। वे अष्टाध्यायी और महाभाष्य पढ़ाते थे। धीरे-धीरे इस पाठशाला में अष्टाध्यायी पढ़ने वालों की संख्या २५ और महाभाष्य पढ़ने वालों की ८ तक पहुंच गई।

वेदभाष्य, सत्यार्थप्रकाश का प्रारम्भ

स्वामी जी ने काशी में इस बार वेदभाष्य का श्रीगणेश किया।

उन दिनों स्वामी जी के निष्ठावान् भक्त राजा जय कृष्ण दास जी काशी में डिपुटी कलक्टर थे। उन्होंने स्वामी जी से प्रार्थना की कि वे अपने उपदेशों को पुस्तक रूप में छपवा दें जिससे जन साधारण पढ़कर उस से लाभ उठायें। स्वामी जी महाराज को यह सुझाव पसन्द आया और जून १८७४ में उन उपदेशों को बोलकर लिखवा दिया और यह ग्रन्थ अगले वर्ष सत्यार्थ प्रकाश के रूप में जनता के समक्ष आया।

यह बात उल्लेखनीय है कि १८७५ में प्रकाशित सत्यार्थ प्रकाश में नमक कर का खंडन किया गया था और इस प्रकार लगभग ५५ वर्ष पूर्व महात्मा गांधी के पग की कल्पना कर ली गयी थी जिन्होंने १९३० में नमक कर के विरोध में सत्याग्रह किया था।

उसी समय स्वामी जी महाराज ने काशी में सर सैयद अहमद खां के बंगले में एक व्याख्यान भी दिया था। सर

सैयद उन दिनों काशी में सब जज थे और स्वामी जी महाराज के प्रशंसकों में से थे।

इस बार काशी नरेश श्री ईश्वरी नारायण सिंह जी ने स्वामी जी को अपने राजनिवास में आने का निमंत्रण दिया। स्वामी जी ने काशी नरेश पर यह दर्शने के लिए कि काशी शास्त्रार्थ की घटना से उनके हृदय में महाराज के प्रति कोई दुर्भाव नहीं है, निमंत्रण को स्वीकार कर लिया। स्वामी जी नरेश की भेजी हुई गाड़ी में राजनिवास पहुंचे। काशी नरेश ने उन का सम्मान किया और शास्त्रार्थ के समय उन से जो अवज्ञा हुई थी उस के लिए क्षमा मांगी। स्वामी जी ने गम्भीर भाव से कहा 'हमारे मन में इन बातों का लेश मात्र भी संस्कार नहीं है।'

काशी नरेश ने पुष्कल धन राशि और भोज्य पदार्थ स्वामी जी को भेट किए और बड़े आदर के साथ गाड़ी में बिठाकर उन्हें विदा किया।

शिक्षा के विषय में स्वामी जी के मन्तव्य

स्वामी जी के मस्तिष्क में संस्कृत एवं वेदों के पठन-पाठन की एक योजना थी जिसका मूल रूप इस प्रकार था—

१. विद्यार्थियों को संध्या सिखाकर पाठशाला में प्रविष्ट किया जाए और इसी से उन की बुद्धि की भी परीक्षा कर ली जाया करे।
२. अष्टाध्यायी, महाभाष्य, मनुस्मृति और वेद पढ़ाये जायें।
३. यदि विद्यार्थी सूर्योदय से पूर्व उठकर संध्या न कर ले तो उसे उस दिन सायंकाल की संध्या कर लेने से पूर्व भोजन न दिया जाये और उसकी देखरेख भी की जाये कि वह कहीं पास की बस्ती में जाकर भोजन न कर ले।
४. विद्यार्थियों को नगर में जाने की आज्ञा न हो।
५. अध्ययन में परिश्रम करने वाले विद्यार्थियों के भोजन का विशेष प्रबन्ध कर दिया जाये।

इन दिनों स्वामी जी ने अनेक स्थानों पर संस्कृत पाठशालाओं की स्थापना पर ध्यान दिया। फरुखाबाद में वेद-विद्यालय पहले ही स्थापित हो चुका था। वहां बालकों के साथ कुछ बड़ी आयु के सज्जन भी नियमपूर्वक वेदादि सत्य शास्त्रों के अध्ययन के लिए आने लगे।

ये पाठशालाएं सुव्यवस्थित ढंग से चल रही हैं या नहीं,

इस की जांच के लिए स्वामी जी प्रायः उन स्थानों का दौरा भी किया करते थे। फरुखाबाद की पाठशाला का निरीक्षण करने के लिए स्वामी जी जब पहुंचे तो ऋषियों के आश्रम जैसी पर्ण-कुटियों में स्थापित इस पाठशाला की गतिविधियों से सन्तुष्ट हुए।

प्रयाग में अनेक विद्वानों से वाद

१ जुलाई, सन् १८७४ को स्वामी जी प्रयाग पहुंचे। शास्त्रार्थ के लिए विज्ञापन देने पर पण्डित काशीनाथ शास्त्री, म्योर कालेज के संस्कृत प्राध्यापक, एक महाराष्ट्रियन ईसाई नीलकण्ठ घोरे और मौलवी निजामुद्दीन बी०ए०, स्वामी जी से विचार-विनियम करने आए।

नीलकण्ठ घोरेर पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर के भक्त थे। वे यह मानते थे कि वेद में मूर्तिपूजा नहीं है, पर साथ ही यह भी मानते थे कि वेद में अग्नि आदि जड़ पदार्थों की पूजा का विधान है। इस के अतिरिक्त मैक्समूलर के कथनानुसार उनकी यह भी धारणा थी कि वेद में पुनर्जन्म का समर्थक कोई मंत्र नहीं है। स्वामी जी ने मैक्समूलर के वेदभाष्य की अप्रामाणिकता पर प्रकाश डाला और तर्क तथा वेद के प्रमाणों से श्री नीलकण्ठ का समाधान कर दिया।

ईसाइयों को उत्तर

स्वामी जी बाइबिल के पुराने अहदनामे की एक कहानी की ओर संकेत करके कहा बैबोलिया के लोगों ने स्वर्गारोहण के लिए एक मीनार बनानी शुरू की परन्तु खुदा ने डर कर कि कहीं ये लोग बहिश्त (स्वर्ग) में न पहुंच जाएं लोगों की भाषा में गड़बड़ उत्पन्न कर दी। स्वामी जी ने लोगों की अज्ञानता पर खेद प्रकट करते हुए कहा कि वे लोग कितने अज्ञानी थे जो यह न समझते थे कि आकाश कोई भौतिक रथान है जिस तक वे पहुंच सकेंगे। यह बात भी हास्यास्पद है कि मीनार के बनने पर खुदा भयभीत हुआ होगा। मिठो घोरे के पास इस बात का कोई उत्तर न था।

पं० काशीनाथ शास्त्री ने स्वामी जी से पूछा— ‘आपने अपने प्रचार से देश में इस प्रकार की हलचल क्यों मचाई हुई है?’ स्वामी जी ने इस प्रश्न के उत्तर में कहा कहा कि पंडितों ने देश में मिथ्या विश्वास फैलाए हुए हैं। पत्थर को पूजते-पूजते उनकी बुद्धि पत्थर और वह सत्य का ग्रहण करने में असमर्थ हो गयी है।

मध्यप्रदेश में प्रचार

बिहार के पश्चात् स्वामी जी ने मध्य प्रदेश की ओर प्रयाण किया। सन् १८७४ ई० के अक्तूबर मास में स्वामी जी जबलपुर पहुंचे। अतिरिक्त सहायक कमिशनर श्री कृष्णराव ने स्वामी जी को जबलपुर आने के लिए आमंत्रित किया था और उन्होंने ही स्वामी जी का आतिथ्य किया। श्री कृष्णराव ने एक दिन स्वामी जी को अपने घर ले जाकर उन का एक फोटो भी खिंचवाया था जो उन के वंश में आज तक सुरक्षित है।

जबलपुर में स्वामी जी राजा गोकुलदास (सेठ गोविन्ददास के पूर्वज) के उद्यान में ठहरे। स्वामी जी के पहुंचते ही जबलपुर के पौराणिक पण्डितों में हलचल मच गई। वे आपस में एक दूसरे से चर्चा करने लगे कि अब क्या किया जाए—इस संन्यासी से कैसे पार पाया जाए।

सब पौराणिकों ने मिल कर शंकर शास्त्री को शास्त्रार्थ के लिए तैयार किया। शंकर शास्त्री पहले तो आनाकानी

करता रहा, फिर कहने लगा कि मैं तो मौखिक नहीं, लिखित शास्त्रार्थ करूँगा। उस को आशंका थी कि मौखिक शास्त्रार्थ में जनता के सामने कहीं मेरी पोल न खुल जाए। स्वामी जी को लिखित शास्त्रार्थ में भी कोई आपत्ति नहीं थी।

शास्त्रार्थ की तैयारी होने लगी। शास्त्री जी के समर्थकों ने खूब तूमार बांधा। दलबल सहित शास्त्रार्थ के रथान पर उपस्थित हो गए और अपना झण्डा भी खड़ा कर दिया। परन्तु ऐन मौके पर शास्त्री जी ने कोई बहाना बना दिया और उपस्थित नहीं हुए। शास्त्री जी के समर्थकों को इससे बड़ी निराशा हुई। उनका सब प्रयास व्यर्थ हो गया।

इस के बाद स्वामी जी ने सरदार मल्हार राव इंगलौर के निवासास्थान पर व्याख्यान दिए। इन व्याख्यानों में उन्होंने धार्मिक चर्चा के अलावा अपने जीवन से सम्बन्धित कुछ घटनाएं भी सुनाई। इन व्याख्यानों में इन्दौर के घनी-मानी व्यक्ति और शहर के शिक्षित लोग अच्छी संख्या में उपस्थित होते रहे।

महर्षि गौरव

(१)

था भव-कानन को मतवाद दावानल ने बहु भाँति जरायो ।
 ता पै समीरन हु जड़ताई को हैके सहायक जोर जनायो ।
 देखि दशा श्रुति सागर तै, अखिलेश जूँ लै जल बोध को धायो ।
 सन्त किया ये दयानन्द-देव, लहै जग में जप सौख्य सुहायो ।

(२)

मोह समुद्र में नाव—समाज की, बूँड़ति कोऊ न खेवन हारो ।
 ताहि बचावन को अखिलेश, महर्षि तज्यो सुख-मुकिति करारो ।
 जो प्रभु-प्रेम-सरोवर को नित, भीन बन्यो निज जन्म सुधारो ।
 सो भगवान दयानन्द को, सुचरित्र करै दुःख दूरि हमारो ।

(३)

मानव-मंगल के हित वेदनि में रत है श्रम कीन्यो घनेरो ।
 वैदिक धर्म-प्रचार हितै, अखिलेश कियो वसुधा पर फेरो ।
 व्यापक-ब्रह्म-निरंजन में रहि, लीन गिन्यो नहीं सांझ सबेरो ।
 ऐसे दयानन्द आनन्द-कन्द को वन्दनवान हजार है मेरो ।

जबलपुर के बाद स्वामी जी मध्यप्रदेश के अन्य स्थानों पर प्रचार करते हुए नासिक पहुंचे। नासिक हिन्दुओं का बहुत अच्छा तीर्थ है वहां पण्डे-पुरोहित हजारों की संख्या में रहते हैं। नासिक के पास ही पंचवटी नामक वह स्थान है जहां मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम अपने वनवास के समय रहे थे।

नासिक में सब-जज थे राव बहादुर विष्णु मोरेश्वर भिड़े। उन्हीं के निवास-स्थान पर विशिष्ट पण्डितों को आमन्त्रित किया गया और शास्त्र-चर्चा की व्यवस्था की गई। इस शास्त्र-चर्चा में बम्बई के उस समय के प्रसिद्ध पत्र 'इन्दु प्रकाश' का प्रतिनिधि भी उपस्थित था। उसने अपने मत में स्वामी जी के अगाध पण्डित्य, अद्भुत स्मरणशक्ति, निर्भीकता, देश प्रेम और समासुधार के लिए तीव्र लगन की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

उसने लिखा है—

स्वामी दयानन्द में इतने सदगुण हैं कि जिनके कारण वे अकेले ही अपने पैर जमा लेते हैं। स्वामी दयानन्द ने नदी

के तट पर उन बहुसंख्यक ब्राह्मण पुरोहितों की कुशिक्षाओं और अज्ञान का जिनके हाथों में सर्व सामान्य जनता के आध्यात्मिक हित का दायित्व है, साहस और स्पष्टवादिता के साथ खंडन किया। उनके व्याख्यानों एवं खंडन-मंडन का नासिक की जनता पर बड़ा सुन्दर प्रभाव पड़ा और जनता ने एक विशेष समारोह में उनका अभिनन्दन करके उन्हें बहुमूल्य उपहार भेंट किए।

यह है बम्बई महानगरी, जहां अंग्रेजों ने अपने भारत आंगे-मन के उपलक्ष्य में 'गेट वे आफ इण्डिया' का निर्माण किया था और जो सचमुच यूरोप-वासियों के लिए आज तक भारत का प्रवेशद्वार बना हुआ है। विभिन्न जातियों, विभिन्न सम्प्रदायों और एक से एक बढ़ कर उद्योगपतियों और घनपतियों की यह नगरी केवल भारत के लिए ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, प्रत्युत संसार के निरन्तर आवागमन के कारण इस महानगर का स्वरूप बहुत कुछ अन्तर्राष्ट्रीय बन गया है। अपने उद्योग, व्यापार वाणिज्य और ऊँची-ऊँची गगनचुम्बी इमारतों के लिए यह नगरी प्रसिद्ध है ही। पश्चिमी भारत का सबसे समृद्ध नगर होने के कारण

कलाकारों, विद्वानों, मनीषियों और राजनेताओं का भी यह केन्द्रीय स्थान है।

बम्बई-निवासी चिरकाल से स्वामी जी को अपने यहां बुलाने के इच्छुक थे और उनको बारंबार निमंत्रित कर रहे थे। स्वामी जी के कुछ भक्तों ने काशी-शास्त्रार्थ में स्वामी जी के विजय से सम्बद्ध विज्ञापन भी पहले से ही नगर में वितरित कर दिए थे। इसलिए यह नगर बड़ी उत्सुकता से स्वामी जी के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा था।

बम्बई में स्वामी जी को आमन्त्रित करने वाले वे सज्जन थे जो काशी शास्त्रार्थ के समय काशी में विद्यमान थे और जिन पर स्वामी जी की विद्वत्ता और निर्भीकता का शास्त्रार्थ के समय बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था। बम्बई में व्याप्त वैष्णव सम्प्रदाय के प्रभाव और उसके बुरे रिवाजों को विघ्वंस करना ही स्वामी जी को आमन्त्रित करने का मुख्योद्देश्य था। यह कार्य स्वामी दयानन्द जैसे शक्तिशाली विद्वान् एवं सुधारक से ही सफलतापूर्वक हो सकता था। यह वह समय था जब कि सुप्रसिद्ध महाराज लायवेल केस चल चुका था।

बम्बई में

२२ अक्टूबर १८७४ को स्वामी जी नासिक से बम्बई पहुंचे। स्टेशन पर भक्तों की भीड़ लग गई। बालकेश्वर के एक उत्तम आश्रम में स्वामी जी के निवास का प्रबन्ध किया गया।

स्वामी जी के आगमन से बम्बई निवासियों में हलचल मच गई। गली-गली और मुहल्ले-मुहल्ले में विभिन्न सम्प्रदायों और वर्गों के लोगों की जबान पर स्वामी जी की ही चर्चा रहने लगी। पाश्चात्य विचारों से सर्वप्रथम सम्पर्क में आने के कारण वहां के लोगों में सामाजिक और राजनीतिक चेतना भी अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक थी। स्वामी जी के आगमन ने उस चेतना को झकझोर दिया।

स्वामी जी ज्यों-ज्यों नगरवासियों की चर्चा का विषय बनते गए, त्यों-त्यों उनके दर्शनार्थियों की ओर उनके विचारों के श्रवणार्थियों की संख्या लगातार बढ़ती गई।

वल्लभ वेदान्त मतखण्डन

उन दिनों बम्बई में वल्लभ सम्प्रदाय का बहुत जोर था। इस सम्प्रदाय की लीलाओं से आम लोग परिचित थे,

परन्तु किसी की भी उनके विरोध में कुछ कहने की और लीलाओं तथा मान्यताओं का सप्रमाण खण्डन करने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। मथुरा में रहते हुए स्वामी जी इन लोगों की आन्तरिक लीलाओं से परिचित थे ही। बम्बई में जब उन्होंने इनका आचरण देखा तो उनके मन में अत्यन्मत क्षोभ हुआ, और उन्होंने अपने व्याख्यानों में उन का प्रबल खण्डन प्रारम्भ कर दिया।

बालकेश्वर में जटाजूटधारी वैरागी बाबा पर्णकुटी बनाकर रहते थे। वे खाकी बाबा के नाम से मशहूर थे। शरीर उनका हष्ट-पुष्ट, सुगहित और बलवान् था। नाम था उनका बलदेव सिंह। वह स्वामी जी के विचारों से इतने प्रभावित हुए कि जिन मूर्तियों की वे पूजा किया करते थे, उन्हें उठा कर पास के एक तालाब में फेंक दिया। जटाएं मुंडवा डालीं और अपनी कुटिया छोड़कर दिनरात स्वामी जी की सेवा में रहने लगे। रात के समय, दिन के समय, भ्रमण करते समय, व्याख्यान में और शंका-समाधान में भी वे सदा स्वामी जी के साथ रहते। यदि कोई व्यक्ति उद्घण्डता करता या स्वामी जी की ओर मैली आंखों से देखता तो पहलवान बलदेवसिंह उसको सबक सिखाने के लिए सन्नद्ध रहते।

संस्कारविधि आदि का लेखन

पंडित कृष्णराम इच्छाराम गुजरात निवासी था। उन्होंने भी स्वामी जी की सेवा में रहकर अध्ययन करने और उन के लेखादि का कार्य करने की इच्छा व्यक्त की। स्वामी जी ने उनको सुयोग्य व्यक्ति समझ कर अपने पास रख लिया और उन से लेखादि का कार्य लेने लगे। बम्बई-निवास में स्वामी जी ने 'संस्कार विधि, वल्लभ सम्प्रदाय मत खण्डन, स्वामी नारायणमत खण्डन और वेदान्त ध्वान्त-निवारण' नामक पुस्तकें लिखीं। कृष्णराम इच्छाराम विचारों से वेदान्ती थे। स्वामी जी का लेखन-कार्य करते-करते और युक्ति प्रत्युक्तियां लिखते-लिखते उन के विचारों में परिवर्तन हो गया और उनका वेदान्त धुएं की तरह उमड़ गया।

माधोबाग में स्वामी जी के व्याख्यानों का सिलसिला भी जारी रहा जिस से बम्बई के शिक्षित समुदाय में स्वामी जी के विचारों के प्रति आस्था निरन्तर बढ़ती गई।

जिस तरह कलकत्ता में समाज सुधार की भावना से प्रेरित होकर केशवचन्द्र सेन और महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर

आदि ने ब्रह्मसमाज के नाम से अपने विचारों का प्रचार प्रारम्भ कर रखा था, वैसे ही पश्चिमी भारत के सुधारवादी और बुद्धिजीवी प्रार्थना समाज के अनुयायी थे। कलकत्ता में जैसे ब्रह्मसमाजियों ने स्वामी जी का दिल खोल कर स्वागत किया था, वैसे ही बम्बई के प्रार्थनासमाजियों ने अपने यहां बुलाकर स्वामी जी का स्वागत किया और उनके व्याख्यानों की व्यवस्था की। प्रार्थनासमाज एक तरह से ब्रह्मसमाज की ही शाखा थी।

वैदिक संस्कृति का विशेष मण्डन

स्वामी जी ने इन व्याख्यानों में वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने के पक्ष का प्रबल रूप में समर्थन किया और स्पष्ट किया किया कि वेदों में एक ईश्वर की उपासना का विधान है। बहुदेवतावाद का उनमें संकेत तक नहीं है। स्वामी जी ने यह भी स्पष्ट किया कि भारत का उद्घार अपनी वैदिक सम्पदा को अपनाने ही से हो सकता है। जो देश अपने भूतकाल पर अभिमान नहीं करता उस का कोई भविष्य भी नहीं हो सकता।

आर्यसमाज का अभ्युदय

(१)

आनन्द सुधासार दया कर पिला गया ।
 भारत को दयानन्द दुबारा जिला गया ॥
 डाला सुधार वाहि बढ़ी बेल मेल की ।
 देखो समाज फूल फबीले खिला गया ॥

(२)

फल खाते हैं लाखों फल खाने वाले ।
 पय पीते हैं वारुणी उड़ाने वाले ॥
 बन गए जती चकलों में जाने वाले ।
 छूटे छल-बल से पाप कमाने वाले ।
 शुद्ध समाचार का शंख निःशंक बजाया ।
 समझो समाज ने क्या-क्या कर दिखलाया ॥

बम्बई प्रान्त में ब्रह्म समाज का दूसरा रूप प्रार्थना समाज के रूप में विकसित हुआ । इसकी स्थापना सन् १८६७ में हुई । इस के नेता डा० आत्माराम पांडुरंग रामकृष्ण गोपाल भांडारकर, महादेव गोविन्द रानाडे आदि सज्जन थे । ये जाति प्रथा के उच्छेद, विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा प्रोत्साहन

तथा बाल विवाह निषेध के सुधारों पर बल देते थे। इस समाज का संगठन कुछ निश्चित नियमों पर नहीं हुआ। यह केवल ऐसे व्यक्तियों का समूह रहा जो हिन्दू धर्म की अनेक कुरीतियों के विरुद्ध आन्दोलन करते थे। हिन्दू समाज में सुधार चाहते थे। व्यवहार में हिन्दू कर्मकाण्ड व रुद्धियों का पालन करते थे। यही कारण है कि प्रार्थना समाज एक शक्तिशाली संगठन न बन सका और उसका प्रभाव सामाजिक सुधार के आन्दोलन के अतिरिक्त बहुत ही कम और नगण्य रहा। यह ब्रह्म समाज की भाँति जन-आन्दोलन न बन सका।

पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क में आने के पश्चात् जिन बुद्धि-जीवियों ने अपनी प्राचीन संस्कृति और वाङ्मय का अनुशीलन करके आत्मविश्लेषण करना प्रारम्भ किया था और तदनुसार अपने समाज को ढालने की जिनके मन में उत्कर इच्छा थी उनमें से बहुत प्रार्थना समाज के प्रभाव में थे।

पं० विष्णु परशुराम शास्त्री और डा० आर०जी० भण्डारकर दोनों अपने समय के संस्कृत के धुरन्धर पंडित थे। दोनों

सुधारवादी थे। स्वामी जी के विचारों से और उन की विद्वत्ता से प्रभावित होकर इन दोनों महानुभावों ने स्वामी जी से अलग से विचार-विनमय किया। कुछ बातों में उनका स्वामी जी से पूरा मतैक्य नहीं हो सका, पर समाज-सुधार के कार्यों में वे पूर्णतः स्वामी जी के समर्थक बन गए।

धीरे-धीरे स्वामी जी के भक्तों और प्रशंसकों की संख्या निरन्तर बढ़ने लगी। उधर जिन के मतों का स्वामी जी खण्डन करते थे, उनके अनुयायियों के मनों में स्वामी जी के विरोध की भावना घर करती गई। स्थित यहां तक पहुंच गई कि बम्बई महानगरों की जनता के भी कुछ वर्ग दो दलों में बंट गए। यदि एक दल जोर-शोर से स्वामी जी के विचारों का समर्थन करता तो दूसरा दल स्वामी जी के विचारों का विरोध करता। स्वामी जी के मन्तव्य ही जैसे आम जनता की चर्चा के विषय बन गए। परन्तु इस से स्वामी जी के भक्तों का उत्साह मन्द नहीं पड़ा, प्रत्युत उस में और चार-चांद लग गए।

'वल्लभाचार्य मत के नेताओं तथा अन्यों ने यह सोचा था कि स्वामी दयानन्द उनका समर्थन करेंगे, परन्तु उनके

व्याख्याँ को सुनकर उन्होंने अपनी राय बदल दी। जब उन्होंने यह देखा कि स्वामी दयानन्द की मूर्तिपूजा के खंडन में दी हुई युक्तियों का उत्तर उनके पास नहीं है तो उन्होंने एक घोषणा-पत्र निकाल कर स्वामी दयानन्द का खंडन किया और उन्हें बुरा-भला भी कहा परन्तु कुछ व्यक्तियों ने उनके व्याख्यानों को सुनकर अपनी मूर्तियां मुम्बा देवी के तालाब में फेंक दीं। सेवक लालकरसन दास ने अपनी मूर्तियां टाउन हाल के म्यूजियम में रख दीं।'

आर्यसमाज की स्थापना

इस बीच स्वामी जी को गुजरात प्रान्त के सूरत और अहमदाबाद नामक स्थानों पर प्रचार के लिए जाना पड़ा। कुछ मास तक गुजरात में प्रचार करने के पश्चात् जब स्वामी जी पुनः बम्बई पहुंचे, तब भक्तों ने स्वामी जी से उन के विचारों का स्थायी रूप से प्रचार करने के लिए एक संस्था स्थापित करने का अनुरोध किया। स्वामी जी इस विचार से सहमत हो गए और अन्त में प्रार्थनासमाज के मन्दिर के निकट माणिक जी की वाटिका (गिरगाम रोड) में ७ अप्रैल, सन् १८७५ को सायंकाल साढ़े पांच बजे यज्ञ

करने के बाद एक सभा हुई जिस में आर्यसमाज की विधिवत् स्थापना की गई। उस समय आर्यसमाज की सदस्यता स्वीकार करने वाले व्यक्तियों की संख्या १०० थी।

तभी आर्यसमाज के २८ नियम निर्धारित किए गए जो बाद में संशोधित करके १० कर दिए गए। आज भी 'आर्य-समाज के दस नियमों' के नाम से वे विख्यात हैं। इन दस नियमों का आर्यसमाज में वही महत्त्व है जो ईसाइयत में बाइबिल में वर्णित दस आदेशों (Ten commandments) का महत्त्व है।

आर्यसमाज की स्थापना के पश्चात् कुछ सभासदों ने स्वामी जी को उसका संरक्षक या सभापति बनाने का प्रस्ताव किया, परन्तु स्वामी जी ने उसे स्वीकार नहीं किया। बहुत आग्रह करने पर उन्होंने संरक्षक के बाजय केवल सामान्य सदस्य बनना स्वीकार किया।

बंबई में कावस जी फ्राम जी हाल ऐसा भवन था जहां बड़े-बड़े ईसाई पदारियों और पाश्चात्य विद्वानों के भाषण हुआ करते थे। महानगर की सुशिक्षित जनता उन व्याख्यानों में बड़ी संख्या में उपस्थित होती थी। जब स्वामी जी के व्याख्यानों की व्यवस्था कावस जी फ्राम जी हाल में हुई तो

पहले दिन इतनी अधिक संख्या में लोग आए कि हाल में तिल रखने को भी जगह नहीं रही। अगले दिन से स्वामी जी के व्याख्यानों के लिए टिकट की व्यवस्था करनी पड़ी जिस से श्रोताओं की भीड़ को नियंत्रित किया जा सके।

पं० कमलनयन शास्त्रार्थ से भागे

पं० गट्टूलाल शतावधानी थे और उनकी स्मरणशक्ति भी बहुत अच्छी थी। संस्कृत में काव्य-रचना का भी उनको अच्छा अभ्यास था। लोगों ने उन को स्वामी जी से शास्त्रार्थ के लिए बहुत उकसाया, पर वे तैयार न हुए। तब लोगों ने पं० कमलनयनाचार्य को शास्त्रार्थ के लिए तैयार किया। ये वैष्णव सम्प्रदाय के प्रमुख विद्वान् और नेता समझे जाते थे और अपने सम्प्रदाय के स्तम्भ थे। अनेक मारवाड़ी धनपति उन्हें अपना गुरु मानते थे। पौराणिक लोग चाहते थे कि कोई ऐसा विद्वान् मिले जो वेदों से मूर्तिपूजा सिद्ध कर सके। उन्होंने इसीलिए पं० कमलनयनाचार्य को बम्बई बुलाया था।

६ जून १८७५ को कावस जी फ्राम जी हाल में इस शास्त्रार्थ की व्यवस्था की गई। शहर के गणमान्य व्यक्ति

वहां प्रभूत संख्या में उपस्थित थे। वेदादि ग्रन्थों को, जिनकी संख्या लगभग १५० थी, बीच में मेज पर सजा कर रख दिया गया जिससे किसी भी प्रमाण को तुरन्त वहीं ग्रन्थ खोल कर दिखाया जा सके।

सभा का कार्य प्रारम्भ हुआ। पं० कमलनयन ने कहा कि इस सभा में उपस्थित श्रोता समुदाय इस योग्य नहीं हैं जो शास्त्रार्थ को सुनकर अपना निश्चय प्रकट कर सकें, इसलिए भारतवर्ष के विभिन्न भागों से पण्डितों को बुलाकर उनके सामने शास्त्रार्थ होना चाहिए। सभापति ने कहा कि यह तो इस समय सम्भव नहीं है, हां यह हो सकता है कि दोनों पक्षों की ओर से जो भी कुछ कहा जाये उसे लिपिबद्ध कर लिया जाए और उस पर दोनों पक्षों के हस्ताक्षर करवा के उसे सब पण्डितों को भेज कर उन की राय ले ली जाए। परन्तु कमलनयनाचार्य इसके लिए तैयार नहीं हुए। तब सभापति ने तथा कमलनयनाचार्य के पक्ष के अन्य वरिष्ठों जनों ने उन से बार-बार आग्रह किया कि अब तक आप यह कहते रहे हैं कि मूर्तिपूजा वेद-विहित है, तो अब जब आपके सामने अपने मन्तव्य को सप्रमाण उपस्थित करने का

अवसर आया है, तब आप चुप्पी साध कर बैठ गये हैं। स्वामी जी ने भी बीच में रखे ग्रन्थों की ओर इशारा करते हुए कहा कि इन में से किसी भी ग्रन्थ में से आप मूर्तिपूजा-समर्थक प्रमाण दिखाएं। कमलनयनाचार्य इस पर भी कुछ नहीं बोले।

अन्त में स्वामी जी ने अनेक वेदमन्त्रों से तथा तर्कों से मूर्तिपूजा का खण्डन किया और कहा कि सत्ययुग में मूर्ति-पूजा नहीं थी, यह तो कलियुग में बौद्धों और जैनियों ने प्रारम्भ की है। स्वामी जी के व्याख्यान से पौराणिक पण्डित-मण्डली भी खूब सन्तुष्ट हुईं ओर सबके सामने यह बात प्रकट हो गई कि पंडित कमलनयनाचार्य में मूर्तिपूजा को वेद-विहित सिद्ध करने की शक्ति नहीं है। सभापति ने स्वामी जी के विजयी होने के उपलक्ष्य में उनके गले में पुष्पमाला डालकर उनका सत्कार किया।

जब पंडित कमलनयनाचार्य सभा-स्थल से वापिस जाने लगे तब स्वयं उन्हीं के बहुत से अनुयायी तथा कालेजों के छात्र उन पर तरह-तरह की फब्बियां कसने लगे।

श्याम जी कृष्ण वर्मा की स्वामी जी से भेंट

इसी समय संस्कृत के महा विद्वान् श्रीयुत श्याम जी कृष्ण वर्मा ने स्वामी जी महाराज के प्रथम दर्शन किये थे और उन्हें अपना गुरु मनोनीत किया था। कृष्ण वर्मा जी बड़े प्रतिभाशाली छात्र थे। संस्कृत में उनकी बढ़ी-चढ़ी गति थी। स्वामी जी ने उन्हें पाणिनि का व्यारकण पढ़ाया था और उन्हीं की प्रेरणा तथा सहायता से वह इंग्लैंड भेजे गये थे। स्वामी जी उन्हें विदेशों में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए बहुत उपयुक्त व्यक्ति समझते थे। श्याम जी कृष्ण वर्मा वही हैं जो क्रान्तिकारियों के आदि गुरु के नाम से विख्यात हैं।

पूना में : गोविन्द रानाडे से भेंट

बम्बई से स्वामी जी पूना गये। पूना महाराष्ट्र का केन्द्र है और सनातन धर्म का तथा संस्कृत विद्या का गढ़ है। पूना के पेशवा ब्राह्मण अपना राज्य स्थापित कर चुके हैं और अन्य मराठे राजाओं को शासन-सूत्र संभाल चुके हैं। उन में स्वाभिमान की मात्रा भी कम नहीं है।

प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता और समाज-सुधारक महादेव गोविन्द रानाडे के निमंत्रण पर स्वामी जी पूना गये थे। रानाडे के प्रयत्नों से हाथी पर स्वामी जी की शोभा ग्रात्रा निकलने को तैयारी की गयी। जब पौराणिकों को यह पता लगा तो उन्होंने अपने मन की कलुषित भावना पूरी करने के लिए एक गधे पर गेरुए रंग की झूल डाली, उस पर एक व्यक्ति का मुँह काला करके बिठा दिया और उसकी सवारी खूब धूमधाम से निकाली ताली पीटते, नाचते-गाते और 'स्वामी गर्दभानन्द सरस्वती' की जय के नारे लगाते हुए लोग उसके साथ चले। बड़ा हुल्लड़ मचा। स्वामी जी और रानाडे महोदय पर खूब कीचड़-कंकड़ पत्थर फेंके गये। वे सोचते थे कि इससे सत्यवादी की बोलती बन्द कर देंगे। पर इस व्यवहार से स्वामी जी का तो अपमान क्या होता, शवयं उन महानुभावों के कीर्तिचन्द्र पर सदा के लिए कालिमा का कलंक लग गया।

स्वामी जी ने पूना पहुंच कर सब से पहले एक विज्ञापन दिया कि हम अमुक-अमुक ग्रन्थ को प्रमाणिक मानते हैं और अमुक-अमुक ग्रन्थ को अप्रामाणिक। इस विज्ञापन का

अभिप्राय यह था कि यदि कोई व्यक्ति स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने की इच्छा करे तो इस बात का पहले सही ध्यान रखे ताकि शास्त्रार्थ के समय अनावश्यक वाद-विवाद में समय बर्बाद न हो।

पूना में बुधवार पेठ में स्वामी जी के १५० व्याख्यान हुए और कैम्प के मराठी स्कूल में ३५० व्याख्यान हुए।

श्री स्वामी जी पूना में श्री शंकर सेठ के मकान पर ठहरे थे और स्वामी जी के व्याख्यानों मराठी स्कूल तथा भिड़े के बाड़ में भी हुए थे।

जैसा कि ऊपर कहा गया है। पूना में स्वामी जी के ५० व्याख्यान हुए जो बड़े मार्कें के थे और जिन्हें हजारों व्यक्ति मंत्र मुग्ध होकर सुनते थे। अनेक व्यक्तियों ने मूर्तिपूजा करना छोड़ दिया था और समाज सुधार के कार्य में रस लेना शुरू कर दिया था। स्वामी जी ने पूना में पंडितों को शास्त्रार्थ का चैलेन्ज दिया परन्तु किसी की भी हिम्मत इस चैलेन्ज को स्वीकार करने की न हुई।

हितेच्छु ने १८-८-१८७५ के अंक में घोषणा की थी कि—पूना के पंडित स्वामी जी के साथ खुला शास्त्रार्थ

करने का साहस करेंगे ऐसी कोई संभावना नहीं है। वे शास्त्रार्थ से बचने के लिए चालबाजियों से काम लेना जारी रखेंगे। पूना में दो दल हो गये थे। एक स्वामी जी का विरोधी और दूसरा पक्षपाती था। विरोधी दल ने स्वामी जी को बदनाम करने और उन का अपमान करने में कसर न उठा रखी थी परन्तु स्वामी जी मान अपमान से ऊपर थे जैसा कि अन्यत्र भी वह इसका भव्य परिचय दे चुके थे।

महादेव गोविन्द रानाडे उस समय पूना में न्यायाधीश थे। उसके बाद वे बम्बई उच्च-न्यायालय के न्यायाधीश बने। वे स्वामी जी की शिक्षा और उपदेशों से बहुत प्रभावित थे और स्वामी जी को गुरु की तरह पूज्य मारते थे। उन्होंने पूना में हुए स्वामी जी के व्याख्यानों का स्वयं सम्पादन किया। उन का आर्यभाषा में अनुवाद कराया, (क्योंकि वे व्याख्यान अधिकतर संस्कृत में होते थे) और बाद में पुस्तक रूप में प्रकाशित कराया।

पूना में स्वामी जी के व्याख्यानों ने पैराणिकों की मण्डली के हृदयों को भी आलोड़ित कर दिया।

महादेव गोविन्द रानाडे के साथ अनेक मूर्धन्य विद्वान्

तथा अन्य अनेक समाज सुधारक स्वामी जी के पास आकर विचार-विनियम करते रहे और स्वामी जी सबको बड़े स्नेह से समझाते रहे।

पूना से स्वामी जी बड़ौदा गए। वहां सर टी० माधवराव ने उनके ठहरने की और आतिथ्य की व्यवस्था की। उन दिनों बड़ौदा में शीत का आधिक्य था, इसलिए सर माधवराव ने स्वामी जी के पास उत्तम गद्दी, तकिया और रजाई भिजवाई, पर स्वामी जी ने उनमें से किसी की चीज का उपयोग नहीं किया। उन दिनों स्वामी जी एक दरी बिछा कर और एक चादर ओढ़ कर सो जाते थे।

पुनः बम्बई में: प्रो० मोनियर विलियम से भेंट

बड़ौदा के मुख्य न्यायाधीश रावबहादुर गोपालराव हरिदेशमुख और उन के सुपुत्र रामचन्द गोपाल देशमुख ने, जो उन दिनों नगर न्यायाधीश थे, स्वामी जी के व्याख्यानों की व्यवस्था में बहुत योग दिया।

सर टी० माधवराव ने विदाई के समय चांदी के थाल में एक सहस्र मुद्रा तथा कुछ रेशमी वस्त्र स्वामी जी को भेंट देने के लिए प्रस्तुत किये, पर स्वामी जी ने विनय पूर्वक उन

सबको लेने से इन्कार करते हुए कहा कि हम अन्य सम्प्रदायों के आचार्यों की तरह नहीं हैं।

बड़ौदा से स्वामी जी अहमदाबाद होते हुए सन् १८७६ के प्रारम्भ में पुनः बम्बई पहुंचे। इस बार बम्बई-निवासियों ने और भी अधिक उत्साह से स्वामी जी का स्वागत किया। 'ओ३म्', 'आर्यसमाज अमर रहे' तथा 'महर्षि दयानन्द सरस्वती की जय' के नारों वाली पताकाएं और फूलमालाएं लेकर सैकड़ों की संख्या में लोग स्टेशन पर पहुंचे।

इस बार स्वामी जी का पहला व्याख्यान (५-३-१८७६) वेदों की महत्ता और पवित्रता विषय पर हुआ। इस व्याख्यान में बम्बई के जन सामान्य के अतिरिक्त बम्बई के अनेक प्रसिद्ध हिन्दुओं ने और आक्सफोर्ड के सुप्रसिद्ध संस्कृत प्रोफेसर मोनियर विलियम्स और बम्बई के कलकटर मिं शैपर्ड ने भी भाग लिया।

यद्यपि व्याख्यान हिन्दी में दिया गया था तथापि यूरोपीय महानुभावों ने उसे समझ कर उसकी बड़ी प्रशंसा की थी। इन दोनों महानुभावों को आर्यसमाज की ओर से आर्यसमाज के नियम तथा अन्य वैदिक साहित्य भेंट किया

गया और प्रोफेसर महोदय का स्वामी जी महाराज के साथ संस्कृत में बड़ा महत्त्वपूर्ण वार्तालाप भी हुआ था।

इस बार पण्डित रामलाल ने स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने की हिम्मत की। हिम्मत तो कर डाली, पर उल्टे लेने के देने पड़ गए। चले थे स्वामी जी को परास्त करने, पर अन्त में स्वयं यह स्वीकार कर गए कि हम मूर्तिपूजा को वेद से सिद्ध नहीं कर सकते।

एक दिन बम्बई के प्रसिद्ध सेठ गोकुलदास, जो वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी थे, स्वामी जी के पास आए और उन से हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि यदि आप मूर्ति-पूजा का खण्डन करना छोड़ दें तो सब भाटियों को मैं आपका अनुयायी बना दूँगा। परन्तु स्वामी जी ने स्पष्ट कह दिया कि हम कभी सत्य से विरत नहीं हो सकते और न ही कभी असत्य का पक्ष ले सकते हैं। ऐसे प्रलोभन स्वामी जी के समक्ष न जाने कितने रूपों में और कितनी बार आए, पर कोई प्रलोभन उन्हें सत्य पथ से विचलित नहीं कर सका।

बम्बई के विभिन्न स्थानों पर स्वामी जी व्याख्यान देने को निरन्तर जाते रहे।

सेठ गोकुलदास के बल्लभ सम्प्रदाय के विरुद्ध होने की एक घटना थी और वह यह कि सेठ जी की विधवा पुत्री एक ५०००) रु० के मूल्य का गले का हार पहिन कर गोसाईयों के मंदिर में गई। एक गोसाई ने वह हार उस लड़की से ऐंठ लिया। सेठ गोकुलदास ने एक दिन एक गोसाइन को वह हार पहने देख लिया परन्तु कहा कुछ नहीं। घर लौटकर उन्होंने अपने बेटी को बुरा-भला और चोरी के आरोप में गोसाईयों पर मुकद्दमा चलाने की बात कही। लड़की ने गोसाई को बचाने के लिए कह दिया कि उसने हार को देखने के लिए लिया था और वह उस जैसा हार बनवाना चाहता था। उस ने सुनार को दिखाने के लिए ही वह हार उस से लिया था। इस के बाद गोसाई ने वह हार सेठ जी की पुत्री को लौटा दिया।

बम्बई के इस बार के आवास में स्वामी जी महाराज के अनेक स्थानों पर व्याख्यान हुए। व्याख्यान के विषय में मुख्यतः परमात्मा का अस्तित्व, उसके गुण, आर्यों के इतिहास तथा नवयुवकों के कर्तव्य थे।

पुराण-पंथियों पर हुए स्वामी जी के प्रहार से उन की अवस्था में ढूबते हुए व्यक्ति जैसी हो गयी थी और वे तिनके के सहारे के रूप में उस हरेक आदमी के पीछे पड़ जाते थे जो स्वामी जी के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए उपयुक्त देख पड़ता था।

स्वामी जी के बम्बई प्रचार की प्रशंसा में बंगदर्शन कलकत्ता के पत्र प्रतिनिधि ने लिखा था—

‘यह एक चमत्कार है कि एक सुप्रसिद्ध वैदिक स्कालर वेदों को हिन्दुओं के सच्चे शास्त्र सिद्ध करता है और दिखाता है कि उन्नीसवीं शती के उच्चतम एवं श्रेष्ठतम विचार वेदों में सन्निहित हैं। दयानन्द अंग्रेजी का एक अक्षर भी नहीं जानते हैं। यह उन के लिए अच्छी बात है। यदि वह अंग्रेजी जानते होते तो लोग कहते कि अंग्रेजी शिक्षा ने उन की बुद्धि भ्रष्ट कर दी है। अंग्रेजी जानने वाले व्यक्ति के विचार केवल अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को ही प्रभावित कर सकते हैं। कद्दर पंथियों की दृष्टि में उन का कोई मूल्य नहीं होता। परन्तु जब कोई बिना अंग्रेजी पढ़ा व्यक्ति संस्कृत के वेद शास्त्रों पर निर्भर रह कर लोगों को सच्चा धर्म बताता

है तो उस की बात उन पर असर कर जाती है। दयानन्द एक मात्र वेदों की व्याख्या करते हैं जो हिन्दुओं के परमपवित्र ग्रन्थ समझे एवं स्वीकार किये जाते हैं। इसलिए दयानन्द स्वामी ने पुराण पन्थी समाज में हलचल मचा दी है।'

इन्दौर में

१८७६ के अप्रैल मास में स्वामी जी बम्बई से इन्दौर पहुंचे और वहां महाराजा के तालबाग में ठहरे। ठाकुर गणपति सिंह ने उनके ठहरने की व्यवस्था की।

यहां भी प्रधान राजकर्मचारी तथा सम्भ्रान्त लोग स्वामी जी से मिलने और उन के व्याख्यान सुनने आते रहे। एक व्याख्यान में महाराजा तुकोजिराव स्वयं पधारे। उस दिन कुछ पौराणिक पण्डितों ने कुछ कोलाहल करने की कोशिश की, पर स्वयं तुकोजिराव की उपरिथिति के कारण वे कृतकार्य न हो सके। इस के बाद महाराजा अनेक बार स्वामी जी से मिलने आए और उन के राजधर्म का उपदेश ग्रहण किया।

बिदाई के समय महाराजा तुकोजिराव ने स्वामी जी

को बहुत सी मुद्राएं, शाल और फल-फूल तथा मिष्टान्न देकर उन का सत्कार किया। स्वामी जी ने राजा से कहा : 'शाल उन को दीजिए जो शीत से ठिठुरते हैं, मैं शाल लेकर क्या करूँगा। यदि प्रत्येक राजा मुझे इसी प्रकार शाल तथा अन्य वस्तुएं देने लगे तो मेरे पास गृहरिथयों से भी अधिक साज-सम्मान और बोझ हो जाएगा और तब मैं निर्द्वन्द्व होकर परोपकार के लिए भ्रमण कैसे कर सकूँगा।'

महाराजा तुकोजिराव ने वेदभाष्य प्रकाशित होने पर उसकी ५० प्रतियां खरीदने का वचन दिया।

दिल्ली दरबार : एकता सम्मेलन का प्रयत्न

दिल्ली ऐतिहासिक नगरी है। महाभारत के समय से यह भारतीय राज्यसत्ता का केन्द्र रही है। कितने साम्राज्यों का उत्थान-पत्न इस महानगरी ने देखा है। लालकिला, कुतुबमीनार, महरौली का लौहस्तम्भ, अशोक की लाट और पाण्डवों की किला आज भी बीते युगों की कहानी कहते हैं।

इसी दिल्ली में महारानी विक्टोरिया के भारत की साम्राज्ञी घोषित होने के उपलक्ष्य में १ जनवरी, सन् १८७७ ई० को विशाल दरबार की तैयारी की गई। लार्ड लिटन

उस समय भारत के वायसराय थे। उन्होंने देश भर के राजा-महाराजाओं को उस दरबार में निमंत्रित किया था। स्वामी जी उस समय बम्बई से लौट कर उत्तर प्रदेश के विभिन्न स्थानों का भ्रमण कर रहे थे।

स्वामी जी का विचार था कि राजाओं के बिना सुधरे प्रजा नहीं सुधर सकती। इसके अतिरिक्त वे यह समझते थे कि इस समय देश में जितने भी प्रगतिशील और सुधारवादी विचारों के नेता हैं, भले ही वे किसी भी मत के अनुयायी हों, उन सब को एकत्र करके देशहित के लिए प्रेरित किया जा सकता है। उक्त दोनों उद्देश्यों की पूर्ति का सुनहरा अवसर जानकर स्वामी जी दिसम्बर के अन्त में दिल्ली पहुंच गए। उन्होंने सब राजाओं को एकत्र करने का प्रयत्न किया। दूसरी ओर उन्होंने ब्रह्मसमाज के सूत्रधार बाबू केशवचन्द्र सेन तथा बाबू नवीनचन्द्र राय, सुधारवादी मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद खां, बाबू हरीशचन्द्र चिन्तामणि, कन्हैयालाल अलखधारी और मुंशी इन्द्रमणि आदि महानुभावों की संगोष्ठी बुलाकर उन से विचार विनिमय किया। राजाओं को एकत्र करने का उत्तरदायित्व इन्दौर नरेश तुकोजिराव ने लिया

था। पर दरबार की धूमधाम और नित्य नए-नए मनोरंजनों की भरमार ने राजाओं को स्वामी जी से विचार-विनिमय का अवसर ही नहीं दिया। धार्मिक और सामाजिक नेता अवश्य एकत्र हुए। स्वामी जी ने 'कर्मकाण्ड और उपासना-विधि' सम्बन्धी भेदभाव भुलाकर आपसी समानताओं के आधार पर सब को एक मत के प्रचार के लिए आह्वान किया। पर विभिन्न मतों के लोग अपने क्षुद्र साम्प्रदायिक स्वार्थों को छोड़ने पर सहमत नहीं हो सके। इस प्रकार स्वामी जी का राजाओं की एकता और सर्वधर्म समन्वय का उद्देश्य अपूर्ण ही रह गया।

चांदापुर शास्त्रार्थ

दरबार की समाप्ति पर स्वामी जी दिल्ली से प्रस्थान कर मेरठ होते हुए सहारनपुर पहुंचे। वहाँ उन्हें पता लगा कि चांदापुर (शाहजहाँपुर) में एक विशाल धार्मिक मेला होने वाला है जिस में ईसाई और मुसलमान विद्वान् भी यह निर्णय करने के लिए एकत्र होंगे कि कौन-सा धर्म सच्चा है। मेले के संयोजकों ने स्वामी जी को भी निमंत्रित किया।

मुसलमानों की ओर से देवबन्द मदरसे के प्रसिद्ध मौलवी मुहम्मद कासिम और दिल्ली के मौलवी सैयद अब्दुल मंसूर, इसाइयों की ओर से पादरी स्काट, पादरी नबल, पादरी पार्कर, और आर्यपुरुषों की ओर खामी दयानन्द और मुंशी इन्द्रमणि उपस्थित हुए। कबीरपन्थी तो इस मेले के संयोजक और संचालक ही थे। शास्त्रार्थ के लिए पांच प्रश्न रखे गये जिन पर सब मतावलम्बियों को अपने विचार व्यक्त करने थे। वे पांच प्रश्न ये हैं:—

- (१) परमेश्वर ने जगत् को किस वस्तु से बनाया है?
- (२) ईश्वर सर्वव्यापक है या नहीं? (३) ईश्वर न्यायकारी और दयालु दोनों एक साथ कैसे हो सकता है?
- (४) बेद, बाइबिल और कुरान के ईश्वर की वाणी होने का क्या प्रमाण है ? (५) मुक्ति किसे कहते हैं और वह कैसे प्राप्त हो सकती है ?

मेले में दो दिन तक गम्भीर शास्त्रीय चर्चा होती रही। मौलवियों और पादरियों को उस मेले में चेतावनी मिल गई कि वैदिक सिद्धान्तों के सामने अन्य कोई मत तर्क और युक्ति की कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता।

पंजाब की ओर

चाँदापुर के मेले में वैदिक-धर्म की विजय- दुन्दभि बजा कर स्वामी जी शाहजहांपुर और सहारनपुर होते हुए पंजाब की ओर चले ।

पांच नदियों से प्रक्षालित होने के कारण अपने 'पंजाब' नाम को सार्थक करने वाला पंजाब प्रदेश प्राचीनकाल में जहां ऋषि-मुनियों की निवास भूमि रहा है, वहाँ सिकन्दर के समय से लेकर बाद में सैकड़ों सालों तक विदेशियों और विधर्मियों के दुर्दान्त आक्रमणों का निरन्तर प्रतिरोध करते रहने के कारण वह वीर भूमि भी रहा । कवियों ने इसीलिए पंजाब को भारत-माता की खड़गधारिणी भुजा कहा है ।

जिस समय स्वामी जी ने पंजाब की ओर प्रस्थान किया उस समय मुल्ला-मौलवी और ईसाई पादरी दोनों मिलकर पकी खेती दोनों हाथों से क्राट रहे थे । मुगलों के शासन में जिस तरह इस्लाम ने अधिकांश जन-समुदाय को अपना शिक्षित समाज पर ईसाइयत का प्रभाव दिन-दूना रात- चौगुना बढ़ता जाता था । हिन्दू जाति अपने को

निस्सहाय पा रही थी और उसका अपना आत्म- विश्वास दिन-प्रतिदिन ह्वास को प्राप्त हो रहा था ।

ऐसे समय स्वामी जी का पंजाब में आगमन इस प्रदेश के लिए संजीवनी का सन्देश लेकर आया ।

पंजाब की भूमि वीर भूमि के नाम से विख्यात है । इसी भूमि में देश का सब से बढ़िया इतिहास बना है । किंवदन्ती है कि लाहौर को राम के पुत्र लव ने बसाया था ।

पंजाब में ही तक्षशिला का सुप्रसिद्ध विद्या मन्दिर था । इसी भूमि पर पुरु ने सिकन्दर के दांत खट्टे किए थे । इसी भूमि ने गुरु गोविन्द सिंह जी प्रभृति हिन्दू हित रक्षकों को पैदा किया था । इसी भूमि की वीर हकीकत राय जैसे बलिदानियों को पैदा करने का यश प्राप्त रहा है । परन्तु विधर्मियों के भारत पर आक्रमणों का सर्वप्रथम यही शिकार हुआ जो सांस्कृतिक दुष्टि से भी बड़े घातक सिद्ध हुए ।

पंजाब की इसी भूमि पर महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज के वर्तमान में प्रचलित १० नियमों का निर्धारण किया था । जो इस प्रकार हैं :—

१. सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।
२. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्व- शक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है? उसी की उपासना करनी योग्य है।
३. वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।
४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।
५. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।
६. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।
७. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

- ८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।
- ६. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।
- १०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

ओ३म् सं समिद्युवसे ऋग्वेद

(१)

हे प्रभो ! तुम शक्तिशाली हो बनाते सृष्टि को ।
वेद सब गाते तुम्हें हैं, कीजिए धन वृष्टि को ॥

(२)

संगच्छध्वं संवदध्वं

प्रेम से मिलकर चलो बोलो सभी ज्ञानी बनो ।
पूर्वजों की भाँति तुम कर्तव्य के मानी बनो ॥

समानो मन्त्रः समिति समानो

हों विचार समान सबके चित्त मन सब एक हों ।
ज्ञान देता हूं बराबर भोग्य पा सब एक हों ॥

समानी व आकूति:

हों सभी के दिल तथा संकल्प अविरोधी सदा ।

मन भरें हों प्रेम से जिस से बढ़े सुख सम्पदा ॥

लुधियाना में

पंजाब में प्रवेश कर स्वामी जी ने सब से पहले लुधियाना में डेरा डाला । मुन्शी कन्हैयाल अलखधारी ने तथा अन्य सज्जनों ने खूब प्रेम से स्वामी जी का स्वागत किया और उन के ठहरने आदि की व्यवस्था की ।

३१ मार्च, सन् १८७७ को स्वामी जी लुधियाना पहुंचे थे । उन्होंने पहुंचते ही यह घोषणा कर दी कि मैं सात दिन तक प्रतिदिन व्याख्यान दूँगा, आठवां दिन केवल शंका-समाधान के लिए रहेगा, इसलिए पहले सात दिनों में व्याख्यानों में कोई व्याघात उपस्थित न करे । सात दिन तक व्याख्यान सुनने के पश्चात् जिसके मन में जो शंका उपस्थित हो वह आठवें दिन प्रस्तुत करे, उस का मैं समाधान करूंगा ।

इन व्याख्यानों से नगर में खूब आन्दोलन हुआ । हजारों लोग व्याख्यान सुनने आए । आठवें दिन किसी अन्य

व्यक्ति ने कोई विशेष प्रश्न नहीं किया, परन्तु पादरी वेरी साहब, जुड़ीशल असिस्टेंट कमिश्नर मिं० कारस्टीफन और पंजाब के पुलिस महाधीक्षक ने पुनर्जन्म के सम्बन्ध में अवश्य प्रश्न किये। ये लोग प्रतिदिन स्वामी जी के व्याख्यान भी सुनने आते थे। स्वामी जी ने उनका उचित समाधान किया।

लुधियाना में एक दिन मिं० कारस्टीफन ने कहा कि श्री कृष्ण का किशोरावस्था में चाल-चलन खराब बताया जाता है। तब फिर उन्हें महात्मा कहना सहज बुद्धि और तर्क के विपरीत है। इसका उत्तर देते हुए स्वामी जी ने कहा कि श्री कृष्ण पर दुराचार का आरोप लगाना गलत और मिथ्या है। जहां तक सहज बुद्धि और युक्ति का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि यदि सहज बुद्धि यह स्वीकार करने में समर्थ है कि परमात्मा ने कबूतर का रूप धारण किया और वह एक आदमी पर उतरा। तब सहज बुद्धि के लिए उन लोगों की बात को जो वे श्री कृष्ण के सम्बन्ध में कहते हैं, स्वीकार करना कठिन न होना चाहिए। इस उत्तर ने दोनों यूरोपियन सज्जनों ने चुप कर दिया।

एक दिन स्वामी जी मिठा कार स्टीफन से भेंट करने गए। वह इतने प्रसन्न हुए कि स्वामी जी के वेद-भाष्य के ग्राहक बन गये और जब स्वामी जी विदा होने लगे तो उन्होंने वेद भाष्य के प्रकाशनार्थ स्वामी जी को कुछ धन भी दिया।

एक व्याख्यान में मूर्ति पूजा का खंडन करते सुनकर एक ब्राह्मण ने अपने साथी के कान में कहा, 'व्याख्याता अर्थात् स्वामी जी बुरा आदमी है और उसका मुँह देखना पाप है, यहां से उठ चलो।' यह बात स्वामी जी के कानों में पड़ गयी। उन्होंने कहा मेरे चेहरे में कोई खास विशेषता नहीं है, परन्तु यदि तुम्हें इससे घृणा है तो आओ मेरे पीछे खड़े होकर जो मैं कहता हूं उसे सुनो। यह सुनकर वह ब्राह्मण बड़ा लज्जित हुआ। लुधियाना में स्वामी जी ने रामकृष्ण नामक एक ब्राह्मण की ईसाई बनने से रक्षा की। वपतिसमा लेने का दिन नियत हो चुका था, जब स्वामी जी को यह पता लगा और उसे धर्म का वारस्तविक रूप बताया तो उस ने ईसाई बनने का इरादा छोड़ दिया।

लाहौर में

स्वामी जी लुधियाना से जालन्धर होते हुए लाहौर पहुंचे। रेलवे स्टेशन पर उन का स्वागत करने वालों में पंजाब के भूतपूर्व मीर मुंशी पं० मनफूल, 'कोहेनूर' नामक समाचार-पत्र के स्वामी मुंशी हरसुखराय और ब्रह्मसमाज के कतिपय सदस्य प्रमुख थे। ब्रह्मसमाज वालों का आन्तरिक अभिप्राय यह था कि यदि स्वामी जी ब्रह्मसमाज का समर्थन कर देंगे तो पंजाब में उस समाज का बल बहुत बढ़ जाएगा। परंतु जब उन की मंशा पूरी नहीं हुई तो उन्होंने स्वामी जी की सहायता से हाथ खींच लिया। इस से स्वामी जी का तो कुछ बिगड़ा नहीं, पर आर्य जनता में ब्रह्मसमाजियों का अपयश अवश्य फैल गया।

लाहौर में दीवान रतनचन्द्र के बाग में स्वामी जी के व्याख्यान प्रारम्भ हो गए। धीरे-धीरे लाहौर के शिक्षित समाज पर स्वामी जी के युक्तियुक्त विचारों का रंग चढ़ने लगा। ज्यों ज्यों स्वामी जी की लोकप्रियता बढ़ती गई, त्यों-त्यों विरोधियों में खलबली मचती गई।

जब विरोधी लोग शिक्षित जनों को स्वामी जी के

व्याख्यानों से विमुख करने में सफल नहीं हुए, तब उन्होंने ओछे हथियार अपना कर और दीवान रत्नचन्द के कान भर स्वामी जी को उन के बाग से अन्यत्र डेरा डालने को विवश किया, तब खान बहादुर डाँ० रहीम खां ने स्वामी जी को अपनी कोठी पर सम्मान-पूर्वक ठहराया। स्वामी जी उस मुसलमान की कोठी पर ही वैदिक धर्म का प्रवचन करने लगे और जनता वहीं उन के व्याख्यान सुनने के लिए आने लगी। इन व्याख्यानों में हिन्दू मुसलमान, सिख, ईसाई—सब समान रूप से सम्मिलित होते और स्वामी जी के विचारों से लाभान्वित होते।

ब्रह्मचर्य का बल

अमृतसर के बाद गुरदासपुर और फिरोजपुर में व्याख्यान देते और वहां आर्यसमाज की स्थापना करते स्वामी जी जालन्धर पहुंचे। वहां के सरदार विक्रमसिंह की कोठी पर ठहरे और वहां ३५ व्याख्यान दिए। एक दिन उन्होंने स्वामी जी से कहा कि आप ब्रह्मचर्य से अतुल बल की प्राप्ति की बात कहते हैं, पर इस का सबूत क्या है? स्वामी जी उस समय चुप रहे। सांझ के समय सरदार साहब अपनी बगधी

पर बैठकर बाहर घूमने निकले। गाड़ी में घोड़ों की बढ़िया जोड़ी जुती थी। कोचवान ने चाबुक फटकारा। जो जोड़ी इशारा पाते ही हवा से बात करने लगती, वह केवल पांव उठा कर रह गई। कोचवान झुँझलाया। सरदार साहब आश्चर्य से इधर-उधर देखने लगे। पीछे दृष्टि पड़ी तो देखा कि स्वामी जी की गाड़ी को पकड़ कर मुरक्करा रहे हैं। सरदार साहब को ब्रह्माचर्य के बल का सबूत मिल गया और स्वामी जी ने हंस कर गाड़ी छोड़ दी।

इसी प्रकार की एक घटना काशी में घटित हुई थी। एक शैव ने जो स्वामी जी के साथ शास्त्रार्थ कर रहा था और एक विषधर को ट्रेण्ड किया हुआ था स्वामी जी महाराज पर विषधर को फैंकते समय चिल्ला कर कहा था, 'भगवान् वासुकी (सर्प देवता) को यह निर्णय करने दो कि हम में से कौन सही है।' स्वामी जी ने विषधर को दूर फैंकते समय उसे उत्तर दिया। 'तुम्हारा देवता बहुत पिछड़ गया है। वह मैं हूं जिसने विवाद का निर्णय कर दिया है।' जन समूह को सम्बोधित करते हुए स्वामी जी ने यह भी कहा—जाओ और सब को कहो कि झूठा देवता कितनी सुगमता से नष्ट हो जाता है।'

अमृतसर में

लाहौर से स्वामी जी अमृतसर आए। अंग्रेजी के प्रसिद्ध दैनिक समाचार-पत्र 'ट्रिब्यून' के संस्थापक, प्रसिद्ध रईस सरदार दयालसिंह मजीठिया ने स्वामी जी के निवास के लिए मियां मुहम्मद जान रईस की कोठी किराये पर ले ली। उसी कोठी में १२ अगस्त, १८७७ को आर्यसमाज की स्थापना हो गई।

एक दिन एक अध्यापक छोटे-छोटे बालकों को उनकी झोली में ईंटों के रोड़ों और कंकर भरवा कर अपने साथ सभारथल पर ले गया। अध्यापक का संकेत पाते ही बच्चों ने स्वामी जी पर कंकड़ और रोड़े बरसाने शुरू कर दिये। पुलिस कर्मचारियों ने कुछ उपद्रवी बच्चों को पकड़ लिया। व्याख्यान की समाप्ति पर जब स्वामी जी ने उन से कंकड़-पत्थर फैंकने का कारण पूछा तो बच्चों ने रोते हुए कहा—'हमें तो लड्डुओं को प्रलोभन देकर ऐसा करने को कहा गया था।' स्वामी जी ने लड्डू मंगवा कर बच्चों को बांटे और उन्हें प्रेम से समझाया कि भविष्य में ऐसे किसी के बहकाने में मत आना और फिर उन्हें पुलिस की गिरफ्त से छुड़वा दिया।

लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना

स्वामी जी को लाहौर में उपदेश देते हुए दो मास से ऊपर हो गए। जब वैदिक धर्म के प्रति जनता की ऋच्छा निरन्तर बढ़ती गई तब स्वयं जनता के ही आग्रह पर स्वामी जी ने बम्बई की तरह लाहौर में भी आर्यसमाज की स्थापना का निश्चय किया। समस्त शिक्षित समाज ने इस प्रस्ताव का हृदय से स्वागत किया और २४ जून, सन् १८७७ को लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना हो गई। आश्चर्य की बात यह है कि आर्यसमाज की स्थापना उसी मुसलमान की कोठी पर हुई जिस में स्वामी जी ठहरे हुए थे। डा० रहीम खां की कोठी पर ईश्वर-प्रार्थना और हवन के पश्चात् विधिवत् आर्यसमाज की स्थापना की घोषणा हो गई। प्रारम्भ में २०० व्यक्ति सदस्य बने, जिनमें उस समय के अनेक प्रतिष्ठित लोग शामिल थे। लाहौर में ही आर्यसमाज के दस नियम निर्धारित हुए। बम्बई में जो नियम निर्धारित हुए थे इन की संख्या अधिक थी और विस्तार भी अधिक था। पहले वाले नियमों में कुछ बातें ऐसी थीं जिन का सम्बन्ध आर्यसमाज के उद्देश्यों से न हो कर आर्यसमाज के संगठन

और सदस्यों के पारस्परिक व्यवहार व्यवहार से था, इसीलिए स्वामी जी ने उनका संशोधन करना उचित समझा ।

राय बहादुर लाला मूलराज लाहौर आर्यसमाज के प्रथम प्रधान और श्रीमान् साईदास प्रथम मंत्री निर्वाचित हुए ।

पुनः मेरठ में

पंजाब में गुजरांवाला, गुजरात, रावलपिण्डी, मुलतान आदि नगरों में वैदिक धर्म का प्रचार करते और वहां आर्यसमाजों की स्थापना करते हुए स्वामी जी रुड़की पहुंचे और रुड़की से मेरठ ।

मेरठ में स्वामी जी की बाबू दामोदर दास की कोठी में ठहरे और वहीं लोगों को उपदेश देते रहे तथा उन की शंकाओं का समाधान करते रहे ।

मेरठ के बिल्वेश्वर महादेव के प्राचीन मन्दिर में पौराणिकों के प्रतिष्ठित व्यक्ति उपस्थित हुए और सनातन धर्म रक्षणी सभा की ओर से स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने पर विचार-विमर्श हुआ । दोनों पक्षों की ओर से काफी लिखा-पढ़ी हुई और शास्त्रार्थ के नियम आदि भी तय हो गए । पर यह शास्त्रार्थ नहीं हो पाया ।

स्वामी जी के उपदेशों का इतना प्रभाव हुआ कि अंत में २६ सितम्बर १८७८ को वहां आर्यसमाज की स्थापना हो गई। आश्चर्य की बात यह हुई कि पौराणिक धर्म के स्तम्भ माने जाने वाले लाला किशन सहाय के पुत्र मुन्नालाल साहू आर्यसमाज के सभासद बन गए और बाद में आजन्म आर्यसमाज के कोषाध्यक्ष पद को सुशोभित करते रहे।

मेरठ में जब आर्यसमाज की स्थापना हुई तब प्रारम्भ में ८१ सभासद बने। इन सभासदों में लाला रामशरणदास जैसे नगर के प्रतिष्ठित रईस, उच्चशिक्षा प्राप्त सज्जन, सेठ-साहूकार, व्यापारी और राजकर्मचारी शामिल थे।

मेरठ छावनी का एक सेठ किसी कारण से स्वामी जी का विरोधी हो गया। स्वामी जी को आहत करने के लिए उस ने कुछ गूजरों को तैयार किया। स्वामी जी के भक्तों ने स्वामी जी को सावधान किया। किन्तु स्वामी जी ने उत्तर दिया कि आप मेरी चिन्ता न करें। मेरा रक्षक परमेश्वर है।

मेरठ में स्वामी जी ने श्री छेदीलाल के निवास स्थान पर हवन कराकर उन्हें यज्ञोपवीत दिया। पंडित लोग कहते थे कि वेद पढ़ने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को है, किसी

अब्राह्मण को जनेऊ धारण करने और वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। पर स्वामी जी ने श्री छेदीलाल का उपनयन संस्कार करके सब को वेद पढ़ने का अधिकार है, यह क्रियात्मक रूप से भली प्रकार सिद्ध कर दिया।

संस्कृत का महत्त्व

एक दिन मेरठ में अनेक मुसलमान सज्जन तथा पादरीगण स्वामी जी के साथ ईश्वरीय आदेश पर संवाद करने आए। सब ने स्वमतानुसार युक्तियां दीं और अपनी धर्म पुस्तकों का ईश्वर का आदेश बताया। उत्तर देते समय महाराज ने उन मतवादियों की युक्तियों का भली भाँति खंडन किया। वेद के सम्बन्ध में अकाट्य युक्तियां दीं और कहा, “संस्कृत भाषा ही एक स्वाभाविक और ईश्वर प्रदत्त भाषा है। इस के स्वरों को लीजिए, इन की ध्वनि सब देशों में पाई जाती है। सब प्रचलित भाषाओं में इसी की वर्णमाला नैसर्गिक है। जो भाषा स्वाभाविक ध्वनि के अक्षरों से बनी है वही भाषा स्वाभाविक और आदिम होनी चाहिए। ईश्वरीय आदेश भी उसी भाषा में होना उचित है।”

मेरठ में स्वामी जी दिल्ली होते हुए पुष्कर पहुंचे। पुष्कर में प्रतिवर्ष मेला लगता है जिस में लाखों मनूष्य सम्मिलित

होते हैं। यहां स्नान का बड़ा माहात्म्य है। स्वामी जी ने भी वहाँ पहुंच कर वैदिक धर्म का प्रचार प्रारम्भ कर दिया।

यहाँ कुछ वाममार्गी तांत्रिक साधु रहते थे जो लोगों में अपनी मंत्रसिद्धि के चमत्कारों का ढिंढोरा पीटा करते थे। जब स्वामी जी ने उन के पास जाकर कहा कि तुम अपना मंत्र मुझ पर चलाओ तो वे कुछ भी चमत्कार ने दिखा सके और भक्तों के सामने उन की बड़ी हेटी हुई।

अजमेर में शास्त्रार्थ

१४ नवम्बर, सन् १८७८ को स्वामी जी अजमेर पहुंचे और उसी दिन से वहाँ व्याख्यान प्रारम्भ कर दिए। यहां उन का पादरी ग्रे और डाक्टर हसबैण्ड से शास्त्रार्थ हुआ। यह शास्त्रार्थ लिखित हुआ था, परन्तु अगले दिन पादरी साहब यह कह कर शास्त्रार्थ से विरत हो गए कि लिखने में समय बहुत लग जाता है और हमारे पास इतना समय नहीं है। यह शास्त्रार्थ 'थियोसोफिस्ट' नामक पत्र में भी छपा था। किशनगढ़ के दीवान रायबहादुर श्यामसुन्दर लाल ने, जो स्वयं शास्त्रार्थ में उपस्थित थे, बाद में स्वीकार किया था कि इस शास्त्रार्थ में पादरी साहब की हार हुई थी।

हरिद्वार में

यहां कुम्भ का (१८७६) का मेला लगा हुआ था। स्वामी जी ने हरिद्वार पहुंचते ही एक विज्ञापन प्रसारित किया जिस में निम्नलिखित बातें अंकित थीं—

१. प्रत्येक व्यक्ति सत्यपरामर्श देकर, ज्ञान का प्रसार, बुराई का परित्याग एवं लोकहितार्थ सत्यकर्म का अनुष्ठान करे मित्रवत् सहायता देकर और वेदों का अनुसरण करके सुख प्राप्त कर सकता है।
२. वेदों की व्याख्या द्वारा प्रभु के आदेशों का स्पष्टीकरण किया जायेगा जिस से कि लोगों का कल्याण हो और कुम्भ के मेले में उन का आना सार्थक हो।
३. प्राचीनकाल में वैदिक धर्म पर चलने से लोग बड़े समृद्ध हुए थे। उस धर्म की उपेक्षा करने से देशवासियों का हर प्रकार का पतन हुआ है। आर्यसमाज जो कुछ कहता है उस पर अमल करने से पुनः समृद्ध हो सकता है।
४. संस्कृत के ज्ञान, भारतीयों की सच्ची हितकामना और वेद प्रमाण सहित सच्चे, शिक्षित और धर्मात्मा लोगों से

निर्मित उपदेशक मंडल की स्थापना से ही भली-भांति यह कार्य सम्पन्न हो सकता है।

५. दुर्दशा, जीवन की गिरावट, निर्धनता, परवशता, असहायावस्था, परस्पर की फूट आदि की विद्यमानता में लोग यह दावा नहीं कर सकते कि वे एक महान् देश की महती बपौती के उत्तराधिकारी हैं।
६. जनता को स्थिति का सामना करना होगा। उसे अपनी महत्वाकांक्षाओं में जीवन के ध्येय और ढंग में सुधार करके शीघ्र ही सक्रिय होना होगा।
७. विवेक से काम लेना, निष्पक्ष स्वार्थ रहित, ज्ञानवान् और सत्यपरायण होना, मन, वचन और कर्म से धर्मपरायण इवं वेदों के निर्दिष्ट प्रभु में मन लगाना होगा।

स्वामी जी नसीराबाद, जयपुर, रिवाड़ी, दिल्ली, सहारनपुर और ज्वालापुर होते हुए हरिद्वार पहुंचे।

उक्त सभी स्थानों पर स्वामी जी निरन्तर वैदिक धर्म का प्रचार करते रहे। हरिद्वार में भी उनके व्याख्यानों में भीड़ का ठिकाना नहीं था। इन दिनों वे प्रातः सात से ग्यारह बजे तक उपस्थित लोगों का शंका समाधान करते। उस के बाद भोजन कर कुछ देर विश्राम करते और एक बजे फिर

व्याख्यान के लिए सभा मंच पर आ विराजते। व्याख्यान इतने मनोरंजक होते कि लोग दत्तचित्त होकर सुनते रहते। सभा ५ बजे विसर्जित होती। उस के बाद रात को फिर ७ से ६ बजे तक धर्मालाप चलता रहता।

इस समय उत्तर भारत में स्वामी जी की अपूर्व स्थिति थी। वे आर्य-हिन्दू जाति के एकमात्र नेता, सुधारक और रक्षक माने जाते थे। गोरक्षा के लिए उन से बढ़ कर ऊँची आवाज उठाने वाला कोई नहीं था। उन के सिंहनाद से विधर्मी थरथर कांपते थे। पौराणिक हिन्दू स्वयं इतने अंधविश्वासोंमें उलझे हुए थे कि विधर्मियों को उत्तर देने की सोच ही नहीं सकते थे। स्वामी जी ने जहां पुराणों की आलोचना की वहां इंजील और कुरान की भी बुद्धि-विरुद्ध बातों का खण्डन किया। इस से जहां आर्यजाति का हृदय फूल उठा, वहां विधर्मी इस अप्रत्याशित आक्रमण से झुঁঝला उठे।

आर्यजाति के उत्साह का ही परिणाम था कि बम्बई, उत्तर प्रदेश और पंजाब के विभिन्न स्थानों पर आर्यसमाजों की स्थापना होती चली गई और जनता में आत्मविश्वास की भावना बढ़ गई। स्वामी जी का यह समय बहुत व्यवस्ताता में बीता।

थियोसोफिरस्टों से सम्बन्ध

कर्नल अलकाट और मैडम ब्लैवेट्सकी स्वामी जी से मिलने को बहुत उत्सुक थे। उन का स्वामी जी से पत्र-व्यवहार भी था। अमेरिका से चलकर वे बम्बई पहुंचे और वहां स्वामी जी के आगमन की प्रतीक्षा करते रहे। इधर स्वामी जी उत्तर भारत में प्रचार कार्य में इतने व्यवस्त हे कि उन का शीघ्र बम्बई जाना नहीं हो सका। तब कर्नल अलकाट और मैडम ब्लैवेट्सकी स्वयं स्वामी जी से मिलने सहारनपुर पहुंचे। स्वामी जी हरिद्वार से सहारनपुर आ गए थे।

३ मई, १८७६ को स्वामी जी उक्त विदेशी भक्तों के साथ मेरठ पहुंचे। मेरठ में स्वामी जी के जहां-जहां व्याख्यान होते, कर्नल अलकाट और मैडम ब्लैवेट्सकी भी वहां उपस्थित रहते। कभी-कभी इन दोनों के व्याख्यान भी होते।

जब ये महानुभाव स्वामी जी से मिलते, तो अधिकतर योग के विषय में वार्तालाप करते।

उन्होंने अपने आचार-विचार से यह कभी प्रकट नहीं होने दिया कि उन्हें ईश्वर या वेद में श्रद्धा नहीं है। वे वचन और कर्म से अपने आपको वैदिक धर्मी कहते और जनता में

भी अपने आप को आर्य ही प्रकट करते। उन का खान-पान और व्यवहार भी आर्यों जैसा ही रहता। वे सब से 'नमस्ते' करके अभिवादन करते।

मेरठ में कर्नल अलकाट और मैडम ब्लैवेट्स्की ने जहां-कहीं सार्वजनिक रूप से अपने विचार प्रकट किए वहां वैदिक धर्म का महत्त्व प्रतिपादित किया और ईसाइयत का खण्डन किया। स्वामी जी ने उनके आचार-व्यवहार को देखकर और अमेरिका से भेजे श्रद्धाभवित से भरे इन के पत्रों से प्रभावित होकर उन पर विश्वास कर लिया और अपने अनुयायियों से भी कहा कि ये दोनों वेद- विरोधी मतों को पाखण्ड का रूप समझते हैं और वेद को ईश्वरीय ज्ञान के रूप में स्वीकार करते हैं।

इन दोनों व्यक्तियों ने अपने आप को आर्य कहने के अलावा भारतर को अपनी मातृभूमि कहा, उस के प्रति अगाध भक्ति प्रकट की। स्वामी जी को बारम्बार अपना सर्वोच्च धर्मगुरु स्वीकार किया और थियोसोफिकल सोसाटी को आर्यसमाज की शाखा प्रतिपादित किया।

स्वामी जी का हृदय राग-द्वेष और छल-कपट से रहित था, इसलिए वे इन के विनय-भाव से प्रभावित हो गए और उन को शरणागत का मान दिया। परन्तु बाद में पता चलगा कि वे तो भूत-प्रेत-पिशाच आदि की कथाओं के द्वारा तथा हिमालयवासी महात्माओं के चमत्कारों के नाम से जनता को बरगलाते हैं और अपनी पुस्तकों तथा मासिक पत्रों में उसी प्रकार की बातें प्रकाशित करते हैं। इसके अलावा वेद और ईश्वर के सम्बन्ध में भी उनके विचार सर्वथा विपरीत हैं।

वे मेरठ के बाद फिर अन्य स्थानों पर भी स्वामी जी से मिले, पर ज्यों-ज्यों निकटता बढ़ती गई त्यों-त्यों उन के चेहरे से नकाब उतरती गई और यह स्पष्ट होता गया कि आर्यसमाज का नाम लेकर वे देश और विदेश में शिक्षित-वर्ग को प्रभावित करके अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। एक तरह से भारतीय धर्म और संस्कृति में घुसपैठ करके उस का मनमानान विकृत रूप संसार के सामने उजागर करने का यह एक विदेशी षड्यंत्र था, जिसे स्वामी जी ने यथा-समय भांप लिया। इन दोनों व्यक्तियों का पूर्व जीवनवृत्त

भी दोषपूर्ण था। उस के बाद कर्नल अलकाट और मैडम ब्लैवेट्सकी से तथा थियोसोफिकल सोसायटी से स्वामी जी ने सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया।

सन् १८७६ के दिसम्बर मास में स्वामी जी पुनः काशी गये और एक विज्ञापन प्रचारित किया। जिस में संक्षेप से अपने मन्तव्यों की चर्चा करते हुए उन्होंने सत्य और असत्य का निर्णय करने के लिए काशी के पण्डितों का शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया था। इस विज्ञापन के वितरण से नगर में काफी हल-चल मची। अनेक प्रभावशाली लोग इसी बात से आतंकित हो उठे कि पौराणिकता और मूर्तिपूजा के गढ़ काशी में आकर कोई इन्हीं चीजों का खण्डन करे। उन्हीं दिनों मुसलमानों का मुहरम भी था। जब स्वामी जी निर्धारित स्थल पर व्याख्यान देने पहुंचे, तब मजिस्ट्रेट ने एक घुड़सवार सार्जेण्ट को भेजकर स्वामी जी के व्याख्यान देने पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

अगले दिन स्वामी जी ने मजिस्ट्रेट को पत्र लिखकर प्रतिबन्ध का कारण पूछा। जब कोई उत्तर नहीं आया तब स्वामी जी ने लेफिटनेंट गवर्नर और चीफ कमिश्नर को पत्र

लिखा कि जब ब्रिटिश राज्य में हरेक को अपने धार्मिक विचारों के प्रचारों की छूट है, तब मेरे धार्मिक व्याख्यान पर प्रतिबन्ध क्यों लगाया गया। इस पर सेक्रेटरी का उत्तर आया कि नगर में मुहर्रम का त्योहार होने के कारण उत्तेजना का वातावरण देखते हुए मजिस्ट्रेट द्वारा लगाये गये प्रतिबन्ध को सरकार उचित समझती है। परन्तु शीघ्र ही मजिस्ट्रेट ने अपनी भूल पर पश्चाताप करके स्वामी जी से क्षमा मांग ली। देश के बड़े-बड़े अखबारों ने इस आज्ञा का प्रतिवाद किया था।

आगरा में

काशी के बाद लखनऊ, कानपुर और मैनपुरी आदि स्थानों पर होते हुए और वहां आर्यसमाज की स्थापना करते हुए स्वामी जी आगरा पहुंचे। पंडित लक्ष्मणप्रसाद महोपाध्याय आदि सज्जनों ने स्वामी जी को बार-बार आगरा आने के लिए आमंत्रित किया था।

मुफीदे-आम स्कूल पीपलमण्डी में व्याख्यानों का आयोजन किया गया। यहां स्वामी जी ने २८ नवम्बर, सन् १८८० से २५ व्याख्यान दिये। इन व्याख्यानों में किन-किन

अपूर्व रहस्यों का उद्घाटन हुआ होगा और क्या अमूल्य उपदेश दिए गए होंगे। पूना के व्याख्यानों को जिस प्रकार महादेव गोविन्द रानाडे ने लेखबद्ध करके सुरक्षित कर दिया था। वैसा आगरा में किसी ने नहीं किया। पर मुफीदे-आम स्कूल में व्याख्यान होने से इतना स्पष्ट ही है कि यहां मुसलमानों ने भी स्वामी जी के व्याख्यानों में खूब रुचि ली।

आगरा के गिर्जाघर में स्वागत

आगरा में रोमन कैथोलिक ईसाइयों का बहुत बड़ा गिरजाघर है—सेण्टपीटर्स चर्च। वहां के विशप पादरी ने अपना संदेशवाहक भेजकर स्वामी जी से मिलने की इच्छा प्रकट की। अगले दिन अनेक प्रतिष्ठित ईसाइयों के साथ वे स्वामी जी से मिलने पहुंचे। स्वामी जी ने विशप महादेव से कहा कि यदि आस्तिक धर्मों को मानने वाले सब बुद्धिमान् नेता केवल उन बातों का प्रचार करें जिन्हें सब मानते हैं, तो एकता स्थापित हो सकती है। वेद, ईश्वर और ईसामसीह तथा रोम के धर्माध्यक्ष पोप के सम्बन्ध में भी वार्तालाप हुआ।

अगले दिन विशप ने स्वामी जी को अपना भारत-प्रसिद्ध गिरजा देखने के लिए बुलाया। जब स्वामी जी वहां, पहुंचे

तो गिरजाघर के सब कर्मचारी तथा अन्य धर्माधिकारी उन का स्वागत करने के लिए द्वार पर उपस्थित हो गए।

गिर्जाघर देखने जाने से पूर्व स्वामी जी महाराज ने विशप महोदय से देर तक बातचीत की थी। स्वामी जी ने उन्हें कहा था, आओ पहले सब आपस में मिलकर एक धर्म स्थिर कर लें और नास्तिक वाद को निर्मूल किया जाये। विशप महोदय ने एकता के मार्ग में अनेक कठिनाइयां दिखाई। उन के उत्तर में स्वामी जी ने कहा कि यदि वेद को सभी सज्जन स्वीकार कर लें तो सब आपत्तियां तुरन्त दूर हो सकती हैं।

आगरा की स्वामी जी महाराज की यह अन्तिम यात्रा थी।

आगरा राधा स्वामी समुदाय का हैड क्वार्टर है। एक दिन उस समुदाय के कतिपय अशिक्षित साधु स्वामी जी के पास आए और कहा—‘गुरु की सहायता के बिना कोई भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।’ स्वामी जी ने उत्तर में कहा—‘एक मात्र सत्कर्म से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है।’ एक साधु ने जब यह कहा कि राधा स्वामी मतानुयागी

साधारण हिंदुओं से ऊंचे हैं क्योंकि वे मूर्ति पूजक हैं तब उत्तर में स्वामी जी ने कहा—‘यह सत्य नहीं है, हिन्दू तो केवल राम और कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानते हैं परन्तु राधा स्वामी मत वाले अपने गुरु को ईश्वर से भी बड़ा मानते हैं।’

मथुरा के सुप्रसिद्ध सेठ लक्ष्मण दास का गुमाश्ता नारायण दास जी गिरधारी लाल जी के पास गया और कहा स्वामी जी को अपने घर से निकाल बाहर करो क्योंकि दयानन्द सेठ के धर्म का खंडन करता है। गुमाश्ता ने सोचा था कि गिरधारी लाल जी सेठ लक्ष्मण दास के प्रतिष्ठित आसामी हैं अतः वह सेठ को खुश करेंगे। इस पर श्री गिरधारी लाल ने कहा—‘मैं ऐसी कमीनी हरकत न करूंगा।’

इस पर नारायण दास कलकत्ता गया और २२-१-१८८१ के दिन वहां एक बड़ी मीटिंग की जिसका नाम आर्य मार्गदर्शिनी रखा गया था इसमें नदिया, भाटपाड़ा और काशी के पंडितों को बुलाया गया था। कहा जाता है कि इस मीटिंग पर आए पंडितों की दक्षिणा आदि पर १० हजार

रुपए खर्च किए गए थे। सेठ लक्ष्मण दास ने अपने इस गुमाश्ते की इस कार्यवाही को पसन्द नहीं किया गया और उसे नौकरी से हटना पड़ा था।

आगरा में दूसरी व्याख्यान-माला का प्रवाह २३ जनवरी, १८८१ से चला।

एक दिन नगर कोतवाल मौलवी तुफैल अहमद स्वामी जी से पुनर्जन्म के सम्बन्ध में वार्तालाप करनेन आए और सन्तुष्ट होकर गए।

सेण्ट जान्स कालेज के अनेक प्राध्यापक तथा राधास्वामी मत के अनुयायी अनेक सद्गृहस्थ भी स्वामी जी से विचार-विमर्श करने आते रहे। अनेक ईसाई और मुसलमान प्रतिष्ठित व्यक्ति भी आकर शंका-समाधान करते रहे।

अन्नतः जनता के आग्रह पर आगरा में भी आर्यसमाज की स्थापना हो गई।

एक दिन महाराज एक भेड़िये की मांद में पले हुए मनुष्य को देखने गये उसे बचपन में ही एक भेड़िया उठाकर ले गया था। फिर वह किसी प्रकार ईसाईयों के हाथ लग

गया। महाराज ने जब उसको देखा तो उस समय वह एक कुर्ता धारण किये हुए था और थोड़े-थोड़े मानुषी व्यवहार भी सीख चुका था। स्वामी जी को अभिवादन करते हुए उसने पैसा मांगा। इस पर स्वामी जी ने उससे कहा कि इतने दिन पशुओं में वास करने पर भी तुमने पैसों का प्रेम न छोड़ा। महाराज के संकेत से उन के साथी भक्त ने दो चार आने उसे दे दिये।

महर्षि का उपकार

ऋषियों के मर्म को वेद के धर्म को था भुलाया।

महर्षि ने हमें आ जगाया ॥

वेदज्योति जगाई ऋषि ने, ज्ञान गंगा बहाई ऋषि ने।

वेद का भाष्य कर, सत्य का अर्थ करके दिखाया।

महर्षि ने हमें आ जगाया ॥

थी छुआछूत की यहां बीमारी, गो विधवा करती थी हाहाकारी छुआछूत की, जन्म जात को था मिटाया।

महर्षि ने हमें आ जगाया ॥

गोकरुणानिधि

आगरा में ही स्वामी जी ने 'गोकरुणानिधि' नामक अपनी अमूल्य पुस्तक लिखी जिसमें गोधन के महत्त्व पर युक्त युक्त ढंग से प्रकाश डाला गया था।

एक दिन मुंशी गिरधारीलाल के निवास स्थान पर गोरक्षा के सम्बन्ध में स्वामी जी का व्याख्यान हुआ। जब स्वामी जी ने गोहत्या की करुण कथा कही तो श्रोता द्रवित हो उठे। स्वामी जी ने अनेक प्रकार से गाय की उपयोगिता का विवेचन किया और गोधन को भात जैसे कृषिप्रधान देश की आर्थिक समृद्धि का मेरुदण्ड सिद्ध किया। व्याख्यान इतना प्रभावशाली था कि उस की समाप्ति पर तुरन्त गोकृष्णादि-रक्षणी सभा की रथापना हो गयी। सभा के लिए उसी समय चन्दा हुआ। कई मुसलमान बन्धुओं ने भी इसके लिए सहर्ष चन्दा दिया।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत सरकार ने जिस प्रकार गोधन की रक्षा पर तथा कृषि-विकास कार्यों पर बल देना प्रारम्भ किया है, उसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी जी कितने दूरदर्शी थे और राष्ट्रहित का कोई पहलू उन की दिव्य दृष्टि से ओझल नहीं था।

स्वामी जी गोरक्षा को आर्यावर्त की उन्नति का मूल मानते थे। वे अनुभव करते थे कि गोहत्या से देश की भयंकर हानि हो रही है। धी-दूध के अभाव में भारत-सन्तान दुर्बल हो रही है। इसीलिए उन्होंने अनेक स्थानों पर गोकृष्णादि रक्षणी सभाएं स्थापित कीं। राजपूताने के पोलिटिकल एजेण्ट से और पश्चिमोत्तर प्रान्त के लेफिटनेंट गर्वनर से मिलकर गोहत्या बन्द करने का अनुरोध किया। अन्त में उन्होंने यह भी विचार किया कि तीन करोड़ भारतवासियों के हस्ताक्षर कराके एक मेमोरेण्डम विक्टोरिया के पास भेजा जावे। इस मेमोरेण्डम पर हस्ताक्षर करवाने का प्रबल अभियान भी उस समय चला।

फिर बम्बई

आगरा से जयपुर, अजमेर, व्यावर और चित्तौड़ आदि स्थानों पर होते हुए स्वामी जी फिर बम्बई पहुंचे।

इस बार स्वामी जी ने अधिकतर व्याख्यान गोरक्षा के सम्बन्ध में ही दिये जिससे अन्य सम्प्रदायों के ऐसे लोग भी, जो पहले अपने मतों का खण्डन सुनकर स्वामी जी का विरोध करने लगते थे, अब उन के प्रशंसक बन गए। बहुतों

ने स्वयं स्वामी जी के पास आकर अपने पहले के बर्ताव के लिए क्षमा भी मांगी ।

गोरक्षा की मार्मिक अपील

हे धार्मिक सज्जन लोगों ! आप इन पशुओं की रक्षा तन, मन और धन से क्यों नहीं करते ? हाय !! बड़े शोक की बात है कि जब हिंसक लोग गाय बकरे आदि पशु और मोर आदि पक्षियों को मरने के लिए ले जाते हैं, तब वे अनाथ तुम हम को देख के राजा और प्रजा पर बड़े शोक प्रकाशित करते हैं—कि देखो ! हम को बिना अपराध बुरे हाल से मारते हैं, और हम रक्षा करने तथा मारने वालों को भी दूध आदि अमृत पदार्थ के लिए उपरिथित रहना चाहते हैं और मारे जाना नहीं चाहते । देखो, हम लोगों का सर्वस्य परोपकार के लिए है, और हम इसीलिये पुकारते हैं कि हमको आप लोग बचावें । हम तुम्हारी भाषा में अपना दुःख नहीं समझा सकते, आप लोग हमारी भाषा नहीं जानते, नहीं तो क्या हम में से किसी को कोई मारता तो हम भी आप लोगों के सदृश मारने वालों को न्याय-व्यवस्था से फांसी पर न चढ़वा देते । हम इस समय अतीव कष्ट में हैं, क्योंकि

कोई भी हम को बचाने में उद्यत नहीं होता। और जो कोई होता है तो उससे मांसाहारी द्वेष करते हैं।

अस्तु, वे स्वार्थ के लिए द्वेष करो तो करो, क्योंकि 'स्वार्थी दोषं न पश्यति' जो स्वार्थ साधने में तत्पर है, वह अपने दोषों पर ध्यान नहीं देता, किन्तु दूसरों को हानि हो तो हो मुझको सुख होना चाहिए परन्तु जो उपकारी हैं वे इनके बचाने में अत्यन्त पुरुषार्थ करें जैसा कि आर्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज तक वेदोक्त रीति से प्रशंसनीय कर्म करते आये हैं। वैसे सब भूगोलरथ सज्जन मनुष्यों को करना उचित है।

धन्य है आर्यावर्त्त देशवासी आर्य लोगों को कि जिन्होंने ईश्वर के सृष्टिचक्र के अनुसार परोपकार ही में अपना तन, मन, धन लगाया और लगाते हैं। इसीलिए आर्यावर्तीय, राजा, महाराजा, प्रधान और धनाद्य लोग आधी पृथ्वी में जंगल रखते थे कि जिस से पशु और पक्षियों की रक्षा होकर औषधियों का सार दूध आदि पवित्र उत्पन्न हों, जिन के खाने-पीने से आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम आदि सद्गुण बढ़े। और वृक्षों से अधिक होने से वर्षा, जल और वायु में

आर्द्रता और शुद्धि अधिक होती है। पशु और पक्षी आदि के अधिक होने से खाद भी अधिक होता है। परन्तु इस समय के मनुष्यों का इससे विपरीत व्यवहार है कि जंगलों को काट और कटवा डालना, पशुओं को मार और मरवा खाना और विष्ठा आदि का खात खेतों में डाल अथवा डलवा कर रोगों की वृद्धि करके संसार को अहित करना, स्वप्रयोजन साधना और पर-प्रयोजन पर ध्यान न देना, इत्यादि काम उल्टे हैं।

आर्यसमाज के ट्रस्टियों की बैठक बुलाकर स्वामी जी ने पुराने नियमों में भी परिवर्तन किया। आर्यसमाज लाहौर की स्थापना के समय जो दस नियम तथा अन्य उपनियम निर्धारित किये गए थे, वे अब समस्त आर्यसमाजों के लिए मान लिए गए।

बम्बई में स्वामी जी ने विभिन्न स्थानों पर भाषण दिए। व्याख्यानों में आक्सफोर्ड में संस्कृत के प्रोफेसर मोनियर विलियम्स और बम्बई के कलक्टर मिंड शेफर्ड भी आए।

मोनियर विलियम्स स्वामी जी की व्याख्यान-शैली विविध विद्याओं में उन की व्युत्पन्नता से बहुत प्रभावित हुए।

एक दिन वे स्वामी जी से मिलने आर्यसमाज में आए तो स्वामी जी ने अन्य आर्य पुरुषों के साथ उन का स्वागत किया। आर्यसमाज के नियम तथा आर्यसमाज द्वारा प्रकाशित पुस्तकों उन्हें भेट की गई जो उन्होंने प्रसन्नता-पूर्वक ग्रहण कीं।

इस के बाद वे अक्सर स्वामी जी से मिलने आते और उन से संस्कृत में वार्तालाप करते। एक बार स्वामी जी की अध्यक्षता में हुई एक सभा में भी वे उपस्थित हुए जिस से उन्हें आर्यसमाज की कार्यपद्धति का भी परिचय किया गया।

जैसा कि अन्यत्र कहा गया है ये वही मोनियर विलियम्स थे जिन्होंने सर्वप्रसिद्ध संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोश तैयार किया था। बाद में इन्हीं मोनियर विलियम्स ने स्वामी जी के शिष्य श्याम जी कृष्ण वर्मा को आक्सफोर्ड में संस्कृत का प्राध्यापक बनने के लिए बुलाया था। स्वामी जी की अनुमति से ही श्याम जी इंगलैंड गए थे। स्वामी जी की उत्कट इच्छा थी कि भारतीय युवक पश्चिमी देशों की वैज्ञानिक उन्नति का ज्ञान प्राप्त करें। श्याम जी ने वहां

जाकर भारत की स्वतंत्रता के लिए जो कार्य किया वह इतिहास में स्वर्णक्षक्षरों में लिखा जाएगा।

बम्बई में इस बार स्वामी जी ने अपना अधिकांश समय वेदभाष्य में लगाया। प्रातः आठ बजे से सायं पांच बजे तक वे किसी से न मिलते और उस समय वेदभाष्य लिखाते।

इस बार कुछ जैनियों ने शास्त्रार्थ करने की चुनौती दी। स्वामी जी सहमत हो गए। पर बाद में कोई जैन विद्वान् शास्त्रार्थ के लिए नहीं आया।

शाम को प्रायः प्रतिदिन ही स्वामी जी किसी न किसी स्थान पर व्याख्यान देने के लिए जाते थे।

पं० लेखराम जी द्वारा स्वामी जी के दर्शन

बम्बई आने से पहले जब स्वामी जी अजमेर में थे, तब अनेक ग्रन्थों के रचयिता, शाहीदे-आजम, पण्डित लेखराम आर्य मुसाफिर स्वामी जी के दर्शन करने के लिए पेशावर से अजमेर पहुंचे। जीव और ब्रह्म की एकता के सम्बन्ध में तथा अन्य कुछ गूढ़ विषयों पर उनके मन में जो शंकाएं थीं, श्री चरणों में बैठ कर पं० लेखराम ने उनका समाधान प्राप्त

किया और यों उन की चिरकालीन मनोकामना पूर्ण हुई। स्वामी जी ने पं० लेखराम को एक अष्टाध्यायी उस भेंट की निशानी के रूप में भेंट की।

एक दिन जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे स्वामी जी से भेंट करने पधारे। उन्होंने १ घंटे प्रतीक्षा की। स्वामी जी ने कहला भेजा कि वह वेद भाष्य के कार्य में व्यस्त हैं, अतः वार्तालाप करने की स्थिति में नहीं हैं। श्री रानाडे चले गए और सायंकाल ५ बजे के बाद आए और स्वामी जी के साथ देर तक वार्तालाप करते रहे। रानाडे स्वामी जी को अपना गुरु मानते थे। इलाहाबाद में हुए इंडियन नेशनल कानफ्रेंस के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने इस तथ्य की चर्चा की थी।

बम्बई समाचार ने स्वामी जी के एक व्याख्यान की जो ३ जून, १८८२ को दिया गया था रिपोर्ट अंकित करते हुए लिखा—

‘स्वामी जी ने अपने व्याख्यान में इस बात पर बड़ा दुःख प्रगट किया कि दूध इतना मंहगा हो गया है कि गुजरात के ग्रामीण जनों को उस की उपलब्धि दूभर हो गई है। इसीलिए वे शरीर से कमजोर हो गये हैं। स्वामी जी ने

पुराने रिकार्ड से यह सिद्ध किया कि अंग्रेजों के भारत में आने से पहले देशवासी धी और दूध का प्रचुर प्रमाण में प्रयोग करते थे।

मसूदा में

मसूदा नरेश पहले पुष्कर में स्वामी जी से मिल चुके थे और वे उनके अनन्य भक्त बन गए थे। उन्होंने बड़े आदर से स्वामी जी को अपने यहां बुलाया और मसूदा हाउस में उन के ठहरने की व्यवस्था की।

अगले दिन से ही स्वामी जी के व्याख्यान प्रारम्भ हो गए। ठाकुर साहब ने व्यावर से पादरी शूलब्रेड को भी शास्त्रार्थ के लिए बुलाया। पादरी साहब आए भी पर शास्त्रार्थ नहीं किया और कहा कि मैं तो केवल स्वामी जी का व्याख्यान सुनने आया हूं।

मसूदा में कुछ जैन साधुओं ने शास्त्रार्थ का प्रस्ताव रखा। दोनों पक्षों की ओर से कुछ लिखित प्रश्नोत्तर भी हुए, पर शास्त्रार्थ नहीं हो सका, क्योंकि साधुओं ने अन्त में यह कहकर पीछा छुड़ा दिया कि हम तो साधु हैं, हमें शास्त्रार्थ करके क्या करना है।

मसूदा के राव साहब ने स्वामी जी के परामर्श से एक बृहत् यज्ञ का आयोजन किया जिसमें स्वयं राव साहब यजमान बने और प्रथम आहुति डाली। इस यज्ञ का इतना प्रभाव पड़ा कि अनेक जैनियों ने भी स्वामी जी के हाथों से यज्ञोपवीत ग्रहण किया और अपने आपको कृतकृत्य समझा।

उदयपुर में

बम्बई से स्वामी जी रतलाम, जावरा, चित्तौड़ और निम्बाहेड़ी होते हुए ११ अगस्त, सन् १८८२ को उदयपुर पहुंचे। महाराणा की ओर से उन का समारोह-पूर्वक स्वागत किया गया और नौलखा बाग में, जो उस उमय 'सज्जन निवास' कहलाता था, ठहरने की व्यवस्था की गई। स्वामी जी की सेवा-शुश्रूता का भार राज्य की धर्मसभा ने संभाला।

उदयपुर नरेश के राजमहल में स्वामी जी के व्याख्यान होने लगे। इन व्याख्यानों में समस्त जागीरदार और राजन्यवर्ग शामिल होता। स्वामी जी ने महाराणा से कहकर दशहरे के अवसर पर होने वाली पशुबलि में बहुत कमी करवा दी। महाराणा को एकान्त में समझा कर स्वामी जी ने महलों में

होने वाला वेश्याओं का नृत्य भी बन्द करवा दिया। स्वामी जी ने महाराणा से कहा कि यदि आप को संगीत का शौक है तो ऊटपटांग अश्लील गीतों के बजाय वेदगान कराओ, हम वेदगान सिखाने को तैयार हैं। महाराणा के राजगायक इनायत खां ने और मोहनलाल पण्ड्या ने कुछ वेदगान सीखा भी था।

कुछ दिन ठहरने के बाद स्वामी जी ने उदयपुर से जाने की इच्छा प्रकट की तो महाराणा ने उन से वर्ही चतुर्मास बिताने का अनुरोध किया। स्वामी जी ने महाराणा का अनुरोध स्वीकार किया। महाराणा अपनी मंत्री-परिषद के साथ स्वामी जी की अभ्यर्थना के लिए सेवा में उपस्थित हुए। उस के बाद महाराणा प्रतिदिन प्रातः और सायं स्वामी जी के दर्शनों के लिए आने लगे। महाराणा का स्वामी जी के प्रति इतना अनुराग बढ़ गया कि प्रातःकाल भ्रमण के समय भी वे कभी-कभी अपनी घोड़ा गाड़ी लेकर पहुंच जाते।

मातृशक्ति का सम्मान

स्वामी जी के हृदय में स्त्रियों के लिए अतिशय सम्मान का भाव था। स्वामी जी स्त्री जाति की पूर्ण स्वतंत्रता और वेदाधिकार के पक्षपाती थे। वे उन्हें द्विज पद प्रदान कर गए हैं।

एक दिन स्वामी जी व्याख्यान के बाद कई राजों एवं पंडितों के साथ भ्रमण करने जा रहे थे। मूर्तिपूजा पर बहस चल रही थी, आगे एक देवालय आ गया। वहां उस समय बहुत से छोटे-छोटे बच्चे खेल रहे थे जिनमें एक लड़की भी थी। स्वामी जी ने एकाएक सिर नीचा कर लिया और फिर आगे बढ़ गए। एक साथी पंडित ने कहा—‘स्वामी जी!’ मूर्तिपूजा का खंडन चाहे जितना करो पर देव बल का भी प्रत्यक्ष प्रमाण है कि देवालय के सामने आपका मस्तक आप ही आप नीचा हो गया। महाराज सुनते ही उन्हीं पांव खड़े हो गए और उन बालकों में खेलती हुई एक ४ वर्ष की नंगी बालिका की ओर संकेत करके बोले—

“देखते नहीं हो यह मातृ शक्ति है जिसने हम सबको जन्म दिया है। यह सुनते ही सब चुप हो गये।

एक लिंग मन्दिर की गद्दी टुकराई

एक दिन महाराणा सज्जन सिंह ने एकान्त में स्वामी जी को निवेदन किया—‘आपको एक लिंग मन्दिर की गद्दी भेंट की जायेगी जिसकी लाखों रुपये की आय है परन्तु आपको मूर्तिपूजा का खंडन छोड़ना होगा।’

यह सुनते ही स्वामी जी के तन बदन में आग लग गई। रोष भरे स्वर में कहा, ‘महाराणा ! यदि मुझे धन का लोभ होता तो मैं अपने महा सम्पन्न घर को न त्यागता । मैं आपके राज्य से एक दौड़ लगा कर भाग सकता हूं। परन्तु प्रभु के राज्य से क्यों कर भाग सकता हूं, ध्यान रहे आगे मुझ से इस प्रकार की बात न कहना ।’

महाराणा आश्चर्य चकित होकर एकदम मौन हो गए।

स्वामी जी ने महाराज की दिनचर्या का निर्धारण करके उन से पूछा कि आप इसके अनुसार आंचरण करेंगे या नहीं। महाराजा ने कहा कि अवश्य करूंगा, और अगले दिन से ही स्वामी जी के कथनानुसार प्रातःकाल चार बजे से लेकर रात के ६ बजे तक कार्यक्रम बनाकर महाराणा उस का पालन करने लगे। इस कार्यक्रम में प्रतिदिन राजमहल में हवन करना भी सम्मिलित था। महाराणा नित्य हवन

करने लगे। हवन में रानियां और राजकुमार सब श्रद्धापूर्वक शामिल होते।

स्वामी जी ने सब सरदारों के पुत्रों को शस्त्र और शास्त्र की शिक्षा देने के लिए एक विशेष पाठशाला का सुझाव दिया जिसे महाराणा ने स्वीकार कर लिया। पर बाद में महाराणा के रोगग्रस्त हो जाने के कारण वह प्रस्ताव कार्यान्वित नहीं हो सका।

स्वामी जी ने राजकीय पाठशालाओं के लिए श्रेणीवार एक पाठ्यक्रम भी बनाया था जिसे महाराणा ने लागू कर दिया था। स्वामी जी ने सुझाव दिया था कि न्यायालयों में सब काम देवनागरी लिपि में होना चाहिए। इस समय न्यायालयों में प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों के स्थान पर उन्होंने संस्कृत के पर्यायवादी शब्द भी लिखवा दिये थे।

महाराणा ने स्वामी जी से संस्कृत भी पढ़ना प्रारम्भ किया। स्वामी जी ने उन्हें मनुस्मृति के ७,८,६ अध्याय और महाभारत का उद्योगपर्व और वनपर्व पदच्छेद और सान्धि आदि का विश्लेषण करके समझाते हुए पढ़ाए। राजनीति का मर्म समझाने के लिए उन्हें विदुर नीति और प्रजागर नीति भी पढ़ाई।

स्वीकार-पत्रः परोपकारिणी सभा की स्थापना

सन् १८८० में जब स्वामी जी मेरठ में थे तभी उन्होंने परोपकारिणी सभा की स्थापना की बात सोची थी और उसके नियम आदि की पाण्डुलिपि भी तैयार कर ली थी, परन्तु उस समय उसकी रजिस्ट्री नहीं हो पाई थी। स्वामी जी का यह संकल्प शिथिल नहीं हुआ था। अब उदयपुर में रहते हुए फिर उन्हें अपने संकल्प का ध्यान आया और उस में अधिक विलम्ब करना उचित न समझकर २७ फरवरी, १८८३ को सब प्रतिष्ठित और आर्यसमाज के हितैषी सज्जनों की उपरिथिति में स्वामी जी ने स्वीकार-पत्र (वसीयतनामा) लिखकर तैयार कर लिया।

इस स्वीकार-पत्र के अनुसार २३ सभासदों की एक एक सभा बनाई गई जिसका नाम परोपकारिणी-सभा रखा गया। इस सभा को अधिकार दिया गया कि वह स्वामी जी के वस्त्र, पुस्तकें धन और यंत्रालय आदि का परोपकार और सत्कार्य में उपयोग कर सकती है।

सभासदों की नामावलि के साथ ही सभा के उद्देश्य और नियम और नियम भी निर्धारित किये गए। इन नियमों

एक नियम यह भी है कि स्वीकार-पत्र के विषय में यदि कोई विवाद उपस्थित हो तो उसे सरकारी न्यायालय में न ले जाकर सभा के सदस्य स्वयं ही उचित निर्णय करें और जब आपस में किसी प्रकार निर्णय न हो सके, तभी न्यायालय की शरण ली जाए।

उदयपुर नरेश महाराणा श्री सज्जनसिंह जी परोपकारिणी सभा के प्रधान बनाए गए और पाण्ड्या मोहनलाल उपमन्त्री।

उदयपुर के दरबार में यह स्वीकार-पत्र पढ़कर सुनाया गय दरबार में उपस्थित सम्भ्रांत सज्जनों ने उस पर अपने हस्ताक्षर किये और उस के बाद उस की रजिस्ट्री हुई।

उदयपुर से विदाई

जब स्वामी जी का उदयपुर से विदा होने का अवसर आया तब समस्त दरबारी लोग तथा नगर के अन्य प्रतिष्ठित लोग बहुत भाव-विभोर हो गए। महाराणा सज्जनसिंह ने दो हजार रु० स्वामी जी को भेंट किये, पर स्वामी जी ने स्वीकार नहीं किए। महाराणा ने कहा कि हम तो इस राशि का दान के लिए संकल्प कर चुके, इसलिए अब इसे अपने

पास नहीं रख सकते तब महाराणा ने आग्रहपूर्वक वह राशि परोपकारिणी सभा को प्रदान कर दी। इस राशि से एक वैदिक निधि के नाम से कायम कर दी गई। बाद में अन्यत्र जमा धन भी इसी कोष में जमा कर दिया गया।

महाराणा ने पहले हस्ताक्षरों से युक्त एक मान-पत्र स्वामी जी की सेवा में प्रस्तुत किया। राजस्थानी भाषा के इस मानपत्र में कहा गया था कि सात मास के आपके उदयपुर निवास से चित्त अत्यन्त आह्वादित रहा। आपकी शिक्षा और उपदेश श्रेष्ठ उन्नतिदायक हैं। उपदेश उसी का सार्थक होता है जिसका अपना आचरण भी उसके प्रतिकूल न हो। आपकी कथनी और करनी में यथार्थ रूप से कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं हुआ। हमारी इच्छा तो नहीं होती कि आपको अपने से वियुक्त होने दें, पर आपका शरीर सब के उपकार के लिए है, इसलिए अवरोध उपस्थित करना उचित नहीं ! फिर भी आशा है कि आप शीघ्र ही पुनः दर्शन देकर चित्त को अनुमोदित करेंगे।

स्वामी जी को महाराज ने अति सम्मानपूर्वक विदा

किया। स्वामी जी उदयपुर से चित्तौड़ आए। चित्तौड़ में स्वामी जी अपने प्रवचन करते हुए सात दिन रहे।

उसके बाद शाहपुराधीश ने स्वामी जी को शाहनुर लाने के लिए अपने विश्वस्त व्यक्ति चित्तौड़ भेजे। स्वामी जी उन के साथ शाहपुरा के लिए चल पड़े।

छुट्टी है

एक दिन बड़े पंडित स्वामी जी के पास आये। स्वामी जी ने कहा 'आइये। व्यास जी ! बैठिये। आज मुझे भी छुट्टी है। आप से वार्तालाप करने में पुरा सुवीधा होगा।' व्यास जी ने निवेदन किया 'भगवन् ! छुट्टी तो वृद्ध लोगों के लिए हुआ करती है। आप तो परम हंस है। पूर्ण स्वाधीन और स्वच्छन्द हैं। आपको ऐसा कौन बंधन शेष है जिस से आप ने आज अवकाश मनाया है।' स्वामी जी ने उत्तर दिया—'मैं सारे धार्मिक बंधनों को मानता हूं। वर्णाश्रम से नीति-रीति से, मैं निरंकुश नहीं हूं। स्वच्छन्दता पूर्वक ही वेद भाष्य आदि का कार्य किया करता हूं। आज उस से छुट्टी मनाई है।'

संन्यास धर्म

स्वामी जी महाराज ने अपने ग्रंथों में संन्यास धर्म का महत्त्व दर्शाया है। वे प्रशान्त चित्त, जितेन्द्रिय और ज्ञानी जन को ही संन्यास का अधिकारी वर्णन करते हैं। साम्रादायिक संन्यास देने की विधि के वे बड़े विरोधी थे। उन्होंने संन्यास लेकर भिक्षा ग्रहण करना उन्हीं के लिए बताया है जो जनता के हितार्थ अपना जीवन उत्सर्ग कर देते हैं। लोक-कल्याण के लिए रात-दिन यत्नशील रहते हैं और जो आठों पहर प्रजा-प्रेम का परम पवित्र पुण्य पाठ पढ़ाते रहते हैं।

शारीरिक सामर्थ्य रखते हुए अनुपकारी जन का पराए अन्न पर पेट पालना एक प्रकार पतित कर्म है।

शाहपुरा में

जब चित्तौड़ में लार्ड रिपन का दरबार हुआ था तब शाहपुराधीश महाराज नाहरसिंह ने स्वामी जी का प्रथम बार दर्शन किया था और स्वामी जी के प्रति उन के मन में अपार श्रद्धा उत्पन्न हो गयी थी और तभी से वे स्वामी जी को शाहपुरा बुलाने के लिए उत्सुक थे।

६ मार्च, १८८३ को स्वामी जी शाहपुरा पहुंचे। राजकीय उद्यान में उन के ठहरने की व्यवस्था की गई। महाराजा नाहर सिंह अपनी मंत्रिपरिषद के साथ स्वयं सेवा में उपस्थित हुए और स्वामी जी का स्वागत किया। प्रतिदिन सायंकाल ६ बजे से रात के ६ बजे तक महाराज नाहरसिंह एक घण्टे तक धर्म-विषयक चर्चा करते और बाद में दो घण्टे तक पढ़ते। महाराज ने स्वामी जी से मनुस्मृति, योगदर्शन तथा वैशेषिक दर्शन पढ़े। महाराज सवेरे आकर स्वामी जी से एकांत में योग तथा प्राणायाम की विधि भी सीखते।

शाहरपुरा में रामस्नेहियों का एक बड़ा मेला था। उस मेले में राजस्थान के रामस्नेही सम्प्रदाय के लोग भारी संख्या में आए थे। कुछ रामस्नेही स्वामी जी के व्याख्यान में आए। शाहपुरा में रामस्नेही के महन्त हिम्मतराम रहते थे। लोगों ने स्वामी जी से शास्त्रार्थ की बात कही।

स्वामी जी ने कहा कि अपने महन्त को हमारे पास लिवा लाओ, हम शास्त्रार्थ के लिए तैयार हैं। जब लोगों ने

हिम्मतराम से शास्त्रार्थ के लिए चलने को कहा तो महन्त जी बोले—‘हम तो पानी छान कर पीते हैं और राम-राम कहते हैं, हमें शास्त्रार्थ से क्या काम।’ इसी प्रकार शास्त्रार्थ न हो सका।

जब स्वामी जी उदयपुर में थे, तभी महाराज प्रतापसिंह और अवराजा तेजसिंह ने स्वामी जी को पत्र भेजकर जोधपुर पधारने का अनुरोध किया था। तब स्वामी जी ने शाहपुरा से लौटकर जोधपुर जाने का वचन दिया था। जब स्वामी जी शाहपुरा में थे तब स्वयं जोधपुराधीश महाराज जसवन्तसिंह का निमंत्रण आया। निमंत्रण पाकर स्वामी जी ने जोधपुर की मरुभूमि को अपने उपदेशामृत से सींचने का निश्चय कर लिया।

शाहपुरा में स्वामी जी ढाई मास रहे। जब शाहपुराधीश को स्वामी जी के जोधपुर जाने के संकल्प का पता लगा तो उन्होंने जोधपुर नरेश की विलासिता प्रवृत्ति को जानते हुए स्वामी जी की चेतावनी देते हुए कहा कि ‘भगवन् ! जहां आप जा रहे हैं वहाँ वेश्याओं का अधिक खंडन न कीजिए।’

पर तलवारों की छाया और तोपों के मुँह पर भी सत्य कहने से न चूकने वाले स्वामी जी ने कड़क कर कहा—‘बड़े-बड़े कंटीले वृक्षों को नहुरने से नहीं काटा जा सकता। उन के लिए तो तीक्ष्ण शस्त्रों की आवश्यकता होगी।’

विदा के समय शाहपुराधीश ने भी स्वामी जी को मान-पत्र दिया और खूब सत्कार किया।

स्वामी जी शाहपुरा से अजमेर आए। वहां पूना के जज राव बहादुर गोपालराव हरि देशमुख के सुपुत्र लक्ष्मणराव जी असिस्टेण्ट कलक्टर खानदेश स्वामी जी से योगाभ्यास सीखने आए हुए थे।



महाप्रयाण

जोधपुर को प्रस्थान

अजमेर में भी जब भक्तों को स्वामी जी के जोधपुर जाने का संकल्प का पता लगा तो उन्होंने हाथ जोड़ कर स्वामी जी से अनुरोध किया कि वह मूल राक्षस का देश है, आप वहाँ मत जाइए। पर धुन के धनी स्वामी जी ने अपने हितैषियों से कहा—‘यदि लोग हमारी अंगुलियों की बत्तियां बना कर जला दें तो भी कोई चिन्ता नहीं। मैं वहाँ जाकर सत्य उपदेश जरूर करूँगा।

मई के अन्त में स्वामी जी अजमेर से पाली पहुंचे। उन दिनों पाली से आगे रेल नहीं थी। आगे जाने के लिए जोधपुर राज्य की ओर सवारी का प्रबन्ध था। मं० लक्ष्मणराव, चारण नवलदान और मुंशी दामोदर दास स्वामी जी के साथ थे। वहाँ से जोधपुर ३०-४० मील दूर था। रास्ते में खूब जोर की वर्षा और आंधी आई। सारा सामान भीग गया। आंधी से रथ की छत भी उड़ गई। स्वामी जी को और उनके साथियों को कुछ दूर पैदल भी चलना पड़ा।

क्या प्रकृति की ओर से भावी विपत्ति का यह कोई पूर्व संकेत था ?

जब जोधपुर ३-४ मील रह गया तब स्वामी जी वायुसेवन के लिए यान से उतर कर पैदल चलने लगे। अन्य साथी भी सवारियों से उतर कर पैदल चले। राज्य की ओर से राव राजा जवान सिंह ने नगर की सीमा पर आगे पढ़ कर स्वामी जी का स्वागत किया।

जोधपुर में

जोधपुर में नजर बाग के सामने भैया फैजुल्ला खां की कोठी में स्वामी जी के ठहरने की व्यवस्था की गई। यह फैजुल्ला खां भारत के स्वतन्त्र होने के बाद राजस्थान के मुख्यमन्त्री पद को सुशोभित करने वाले बरकतुल्ला खां के पूर्वज थे। श्री बरकतुल्ला खां ने अलवर आर्यमहासम्मेलन के अवसर पर अपने पूर्वजों की यह कोठी राष्ट्रीय स्मारक के रूप में आर्यसमाज को दान कर दी थी। स्वामी जी के पहुंचते ही कर्नल प्रताप सिंह, महाराजा तेज सिंह और महाराजा जसवन्त सिंह के छोटे भाई स्वामी जी के स्वागत के लिए आए। कर्नल प्रताप सिंह ने स्वामी जी को एक

मोहर भेंट की और उनके लिए बछड़े वाली एक गौ, छः सिपाही, एक हवलदार और चार सेवकों के साथ भोजन और शयनादि की उचित व्यवस्था कर दी। कर्नल प्रताप सिंह और राव राजा तेज सिंह ने स्वामी जी की सुख-सुविधा के उपकरण प्रस्तुत करने में कोई त्रुटि नहीं की। महाराज जसवन्त सिंह के गले में पीड़ा थी, इसलिए वे तुरन्त दर्शनों के लिए नहीं आ सके।

जिस दिन महाराज जोधपुर में पधारे, उसी दिन से सत्संगियों की मण्डलियां उन के पास आने लग गईं। वार्तालाप और प्रश्नोत्तर द्वारा ही अनवरत रूप से उपदेशों की वर्षा होने लग गई। स्वामी जी की युक्तियां और प्रतियुक्तियां श्रोताओं की लहलहाती चित-लताओं को धीमे-धीमे पड़ने वाली फुहार की तरह शान्त करती थीं। राठौर राज्य के सरदार और राठौर वंश के राजपूत प्रभु दयानन्द के एक-एक करके शिष्य बनने लग गए। राठौर राज्य में 'नमस्ते' की मधुर और कर्ण-प्रिय ध्वनि सर्वत्र गूँजती सुनाई देती थी। आर्यत्व का सर्वत्र प्रचार होता चला जाता था।

महाराज प्रताप सिंह ने स्वामी जी से निवेदन किया कि 'भगवन् ! आप ब्रह्म हैं या जीव ?' उन्होंने उत्तर दिया 'मैं जीव हूँ।'

महाराजा महाशय ने कहा कि 'हमारे पंडित तो हमें ब्रह्म बताया करते हैं।' स्वामी जी ने उपदेश देते हुए कहा 'आप ब्रह्म होते तो आप मैं ब्रह्म के गुण भी पाए जाते। उस के सर्वज्ञता आदि गुण आप मैं नहीं हैं इसलिए आप जीव हैं। ब्रह्म मैं भूल और अशुद्धि का मानना भारी भूल है।'

महाराजा महाशय ने फिर निवेदन किया 'भगवन्! कोई ऐसा उपाय बताइए जिससे विविध वासनाओं के पाश में बद्ध मेरे जैसे मनुष्य की मुक्ति हो जाये। महाराज ने कृपा की—'आप लोगों के दूसरे कर्म तो मोक्ष मार्ग के नहीं हैं किन्तु एक कर्म अपना आपके अधीन है और वह है निरपेक्ष न्याय करना। यदि आप प्रजा का न्याय करने मैं कमी न आने देंगे तो आप की आत्मा इसी से निर्लेप होकर निर्वाण पद पा लेगी।'

स्वामी जी महाराज ने जसवंत सिंह से पूछा कि कहिए

आप की क्या इच्छा है। महाराज जसवंत सिंह ने कहा कि आप से कुछ शिक्षा ग्रहण करने की इच्छा है।

इस के बाद स्वामी जी ने महाराज जसवंत सिंह को धर्म और राजनीति का मर्म समझाया, मनुस्मृति के अनुसार जैक्स प्रजा के धर्म का वर्णन किया। यह उपदेश लगभग तीन घण्टे तक चलता रहा। महाराज भी इस सारगर्भित मर्मस्पर्शी उपदेश से गदगद हो गए। उन्होंने स्वामी जी से कहा कि आपका हमारे राज्य में पधारना हमारे लिए बड़े सौभाग्य की बात है।

इस के बाद प्रतिदिन शाम को ४ बजे से ६ बजे तक फैजुल्ला खां की कोठी के अहाते में ही स्वामी जी के व्याख्यान होने लगे। श्रोताओं की आंखे खुलने लगीं और जनता को पता लग गया कि अभी तक वह भ्रम और अन्धविश्वास में फंसी हुई थी।

इन दिनों स्वामी जी क्षत्रियों के चरित्र-सुधार पर और गोरक्षा पर बहुत बल दिया करते थे।

एक दिन स्वामी जी महाराजा जसवंत सिंह के बंगले

पर गए। उस समय महाराजा नहीं जान नामक वेश्या के साथ बैठे थे। स्वामी जी के आगमन की सूचना मिलते ही महाराज ने सेवकों को आज्ञा दी कि नन्हीं जान की पालकी उठा कर ले जाओ। पालकी को उठाने में स्वयं महाराजा ने भी अपने कंधे का सहारा दिया। इतने में स्वामी जी आ गए और उन्होंने महाराजा को फटकारते हुए कहा—‘राजन् ! राजपुरुष सिंहों के समान होते हैं और वेश्याएं कुतियों के समान। कुतियों पर कुत्ते ही आसक्त होते हैं, सिंह नहीं।’

इस के बाद स्वामी जी ने कर्नल प्रताप सिंह को भी एक पत्र लिखा जिस में राजाओं के लिए चरित्र, स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य की आवश्यकता पर बहुत बल दिया था।

स्वामी जी के जोधपुर पहुंचने के सत्रह दिन पश्चात् महाराज जसवंत सिंह स्वयं स्वामी जी के दर्शनों के लिए आए। स्वामी जी को भेंट देने के लिए महाराज कुछ मोहरें, वस्त्र तथा अन्य चीजें, अपने सेवकों के साथ लाए। स्वामी जी उस समय कुर्सी पर विराजमान थे।

स्वामी जी के सामने कुर्सी पर बैठना अशिष्टता होगी,

यह सोच कर महाराजा नीचे फर्श पर ही बैठने लगे। स्वामी जी ने उन्हें कुर्सी पर बैठने को कहा तो महाराजा जसवंत सिंह ने विनय पूर्वक कहा—‘भगवन् ! हम तो आप के सेवक हैं, इसलिए हमें अपने चरणों में ही स्थान दीजिए।’ स्वामी जी ने जिन्हें हाथ पकड़ कर कुर्सी पर बिठाया।

षड्यन्त्र के कारण

स्वामी जी जोधपुर में लंगभग चार मास तक रहे। सन् १८८३ के सितम्बर मास के अन्त में २५-२६ तातो की रात को कल्लू नामक सेवक ६००-७०० रु० का सामान, कुछ रु० और मोहरें चुरा कर खिड़की के रास्ते भाग गया। अगले दिन पुलिस में रिपोर्ट भी हुई। कर्नल मुहैयुद्दीन खां कोतवाल और पुलिस वालों ने स्वामी जी से बारम्बार पूछा कि आपका किस पर शक है, परन्तु स्वामी जी ने किसी का नाम नहीं लिया। पुलिस वालों ने चोर की तलाश का नाटक भी किया, पर चोर को कहीं पता नहीं लगा। ऐसा लगता है कि कोई बहुत गूढ़ षड्यन्त्र था जिस में राज्य की पुलिस के साथ अन्य लोग भी शामिल थे।

नन्हीं जान तो इस भय के कारण स्वामी जी की शत्रु बन गई थी कि कहीं महाराजा स्वामी जी के उपदेश से मेरा परित्याग न कर दें। इस के अलावा जोधपुर रियासत के चक्रांकित सम्प्रदाय के लोग और पौराणिक जनता भी अपने मतों का खण्डन किए जाने के कारण स्वामी जी की विरोधी हो गई थी। उस समय फैजुल्ला खां की राज्य में तूती बोलती थी और वे राज्य के कर्ता- धर्ता माने जाते थे। महाराजा जसवंत सिंह पर फैजुल्ला खां का प्रभाव था या नन्हीं जान का। एक दिन फैजुल्ला खां के भतीजे मुहम्मद हुसैन ने तलवार की मूठ पर हाथ धर कर, स्वामी जी के व्याख्यान के बीच में खड़े होकर कहा था कि यदि मुसलमानों का राज्य होता और आप इस प्रकार इस्लाम का खण्डन करते तो आप जीवित न बचते। इस पर स्वामी जी ने बड़े स्थिर भाव से कहा था कि 'तब मैं भी राजपूतों की पीठ थपक देता और तब वे अपने आप निबट लेते।' उच्च पदस्थ क्षत्रिय इस कारण नाराज थे कि स्वामी जी खुली सभा में उन के दुराचार के लिए उन्हें फटकारते थे।

इस प्रकार जोधपुर में सारा वातावरण ही तनाव से भरा हुआ था। स्वामी जी का मन भी इस वातावरण के कारण जोधपुर से उचट गया था। सब विरोधी तत्त्व आपस की सांठ-गांठ करके किसी षड्यन्त्र में लिप्त रहे हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। उस समय उन देशी राज्यों में वैसे भी षड्यन्त्रों की भरमार रहती थी।

भयंकर विष प्रदान

२६ सितम्बर की रात को स्वामी जी ने नियमानुसार दूध पिया और सो गए परन्तु उन की निद्रा भंग हो गई। पेट में भयंकर दर्द हुआ, जी मिचलाने लगा और तीन बार उल्टी हुई। ३० सितम्बर को सवेरे फिर उल्टी हुई। स्वामी जी को संदेह हुआ कोई विषाक्त पदार्थ खिला दिया है। धीरे-धीरे उन की अन्तङ्गियों और यकृत में सूजन आ गई। उल्टी करने में भी पीड़ा होने लगी। छाती और पेट में दर्द बढ़ता चला गया।

अकरमात् स्वामी जी के रुग्ण होने का समाचार सुन कर अजमेर से श्री जेठमल तथा अन्य लोग आए। स्वामी जी की कष्टदायक स्थिति देख कर स्वयं उन्हें भी बड़ा

दुःख हुआ। इधर रावराजा तेज सिंह और कर्नल प्रताप सिंह को जब स्वामी जी के रुग्ण होने का समाचार मिला तो उन्होंने राज्य की ओर से चिकित्सा का प्रबन्ध किया।

राज्य की ओर से जो चिकित्सक आया, वह इतना कुशल नहीं था। वह तीसरे दर्जे का अस्पताल असिस्टेण्ट था। पर स्वभाव से खुशामदी और वाचाल होने के कारण जहाँ उस ने राजकर्मचारियों में अपनी प्रतिष्ठा बना ली थी, वहां खासा धन भी बटोर लिया था। उस ने अन्तड़ियों की सूजन दूर करने के लिए जो दवाई दी उस में कैलोमल की मात्रा यह कह कर सामान्य मात्रा से चार गुनी अधिक डाल दी कि स्वामी जी हृष्ट पुष्ट व्यक्ति हैं, सामान्य मात्रा से इन पर कुछ असर नहीं होगा। इस दवाई से जहाँ स्वामी जी की तबियत और खराब हो गई, वहां उन्हें दस्तों का तांता भी लग गया। जोधपुर जेल के प्रमुख चिकित्सक डा० सूरजमल स्वामी जी को अलीमरदान खां की दवाई नहीं देना चाहते थे, पर उन्होंने दूसरे डाक्टर की चिकित्सा में अपनी ओर से हस्तक्षेप करना डाक्टरी आचार के नाते ठीक नहीं समझा।

इस हालत में भी स्वामी जी ने कमरे की वायु शुद्ध करने के लिए हवन किया ताकि शुद्ध वायु से रोग के कीटाणु नष्ट हो जाएं। पर उन का रोग बढ़ता ही गया। छाती और पेट में दर्द तथा दस्त तो थे ही, हिंचकियां भी आने लगीं। उन के गले, जिह्वा, तालु, सिर और मस्तिष्क में विष के असर से छाले पड़ गए।

इस से पहले जब-जब स्वामी जी को विष दिया गया तब-तब उन्होंने नमक मिला पानी पीकर और कुंजलक आदि यौगिक क्रियाएं करके उस समस्त विषाक्त और विजातीय द्रव्य को शरीर से बाहर निकाल दिया था। स्वामी जी ने इस बार यौगिक क्रियाएं कीं, किन्तु विष के निवारण में सहायता नहीं मिली। इस के दो ही कारण हो सकते हैं—एक तो यह कि विष इतना भयंकर था कि इस प्रकार की क्रियाओं से उस का दूर होना सम्भव नहीं था, और दूसरे यह कि अब तक विष का प्रभाव शरीर में इस हद तक फैल चुका था कि वह काबू से बाहर हो गया था।

धीरे-धीरे स्वामी जी की निर्बलता इतनी बढ़ गई कि

उन्हें करवट लेने में भी कष्ट होने लगा। डा० सूरजमल का कहना था कि यदि कोई सामान्य व्यक्ति होता और उसे इतने दस्त आ गए होते तो उस का प्राणान्त हो जाता। पर स्वामी जी का शरीर इतना बलिष्ठ है इसलिए इस कष्ट को झेल सका।

डा० सूरजमल का यह भी कहना था कि कैलोमल की इतनी मात्रा देने के कारण ही स्वामी जी की तबियत लगातार बिगड़ती चली गई।

तभी 'राजस्थान गजट' में स्वामी जी के बीमार होने का समाचार छपा। आर्यजगत् को पता लगा तो सब स्तब्ध रह गए। पर स्वामी जी ने अपनी ओर से किसी को समाचार नहीं दिया, इस का कारण यह था कि वे सुख दुःख को शरीर का धर्म समझते थे और अपने लिए औरों को कष्ट देना नहीं चाहते थे। पर आश्चर्य की बात यह है कि जोधपुर के अधिकारियों ने भी लगातार दो सप्ताह तक इस विषय में चुप्पी साधे रखी।

इस सब बातों से षड्यंत्र की बात की ही पुष्टि होती है।

जोधपुर से विदाई

१५ अक्टूबर को स्वामी जी की दशा देखकर डाक्टर अलीमरदान खां भी डर गया। उस ने अपनी ओर से सुझाव दिया कि स्वामी जी के शरीर में गर्भ बहुत है, इसलिए उन्हें आबू भेज देना चाहिए—वहां के ठण्डे जलवायु से इन के स्वास्थ्य को लाभ पहुंचने की अधिक सम्भावना है। शायद उसने सोचा हो कि यदि स्वामी जी का स्वर्गवास जोधपुर में ही हो गया तो सारा कलंक उसी के सिर रहेगा। दोपहर को रेजीडेन्सी सर्जन डा० रोडम को भी बुलाकर दिखाया गया। उन की भी यही सम्मति रही।

१६ अक्टूबर को महाराज जसवंतसिंह और कर्नल प्रताप सिंह स्वामी जी को विदा करने आए। महाराज ने उन्हें २५०० रु० दो शाल और कुछ मोहरें दीं और ३२ कहारों को बुलाकर आबू तक स्वामी जी को पालकी पर ले जाने की व्यवस्था कर दी। १६-१६ कहार बारी बारी से पालकी को उठाते। डा० सूरजमल, चारण नवलदान और मुरारदान को आबूरोड स्टेशन तक स्वामी जी के साथ जाने की आज्ञा हुई।

जब स्वामी जी को कई मनुष्यों के हाथों के सहारे ऊपर के कमरे से धीरे-धीरे उतार कर पालकी में लिटाया, तब महाराज जसवंतसिंह, कर्नल प्रतापसिंह, रावराजा तेजसिंह तथा अन्य प्रतिष्ठित लोग उपस्थित थे। महाराज ने अश्रुपूर्ण नेत्र और वाष्पावरुद्ध कण्ठ से पुनः जोधपुर पधारने की स्वामी जी से प्रार्थना की। स्वयं महाराज ने पालकी को सहारा दिया और बाग के दरवाजे तक पैदल पालकी के साथ-साथ आये। अन्य लोग दूर तक पालकी के साथ गए।

राजस्थान और गुजरात की सीमा पर स्थित आबू पर्वत अपने स्वारथ्यदायक जलवायु के लिए प्रसिद्ध है। ऊंचाई केवल ४००० फुट है, इसलिए शिमला आदि की तरह अधिक ठण्ड भी वहां नहीं पड़ती। आबू वैसे भी ऐतिहासिक स्थान है। दिलवाड़ा का प्रसिद्ध जैन मन्दिर जो अपनी कलापूर्ण कारीगरी के लिए विख्यात है, आबू में ही है। आबू में सूर्यास्त का दृश्य इतना आङ्गादकारी होता है कि उसे देखने के लिए दूर-दूर से पर्यटक यहां आते हैं। एकान्त और शीतल स्थान के अभिलाषी साधकों के लिए भी इसका आकर्षण कम नहीं।

आबू की सब से बड़ी विशेषता है—उस की नक्की झील। जिस तरह नैनीताल में नैनी सरोवर के होने से उस की शोभा सैकड़ों गुण बढ़ गई है, उसी तरह नक्की झील के कारण आबू की शोभा भी अतुलनीय हो गई है।

आबू में

जोधपुर से चलकर स्वामी जी पाली होते हुए आबू पहुंचे। आबू रोड स्टेशन से ऊपर पर्वत तक जाने के लिए पालकी की व्यवस्था की गई। रात को ८ बजे स्वामी जी आबू पहुंचे।

अब तक स्वामी जी के रुग्ण होने का समाचार अन्य स्थानों पर भी पहुंच चुका था। अजमेर के आर्य सज्जनों ने श्री जेठमल से स्वामी जी की दशा जान कर स्थानीय डाक्टरों और वैद्यों से परामर्श किया। रोग के लक्षण सुनकर सब की यही कांच और संखिया से उत्पन्न होने वाले उपद्रव प्रायः मिलते-जुलते हैं। फिर स्वामी जी को गर्भी अत्यधिक मात्रा में सता रही थी, यह भी संखिया नामक भयंकर विष के प्रकोप का ही परिणाम था।

डा० लछमनदास का उसी दिन आबू से अजमेर को

तबादला हो रहा था। जब उन्हें स्वामी जी की रुग्णता का समाचार मिला तो उन्होंने अपने गुरु की चिकित्सा करना अपना सर्वोपरि कर्तव्य समझा। उन्होंने अपना तबादला रुकवाने की कोशिश की। जब उन का तबादला किसी भी तरह नहीं रुका तब उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। उन्होंने आबू के चीफ मैडिकल आफिसर डा० स्पैसर से भी परामर्श किया। डा० लछमनदास के इलाज से स्वामी जी को आराम भी हुआ। पर उन का त्यागपत्र स्वीकृत नहीं हुआ। अन्त में स्वामी जी के आग्रह से उन्हें अजमेर जाने का बाध्य होना पड़ा। स्वामी जी से विदा होते समय डा० लछमनदास की आंखें भर आईं। स्वामी जी का हृदय भी द्रवित हो गया।

तब तक मेरठ से मुंशी लक्ष्मण स्वरूप, फरुखाबाद से पं० लक्ष्मीदत्त, बाबू शिवदयालसिंह, जोधपुर से कर्नल प्रतापसिंह तथा बम्बई से सेवकलाल कर्सनदास २३ अक्टूबर को ही आबू पहुंच गये थे। ठाकुर भूपालसिंह भी रवेच्छया स्वामी जी की सेवा के लिए मार्ग में ही उन के साथ हो लिये थे। उन्होंने सचमुच जैसी निष्ठा और लगन से स्वामी जी की सेवा की, वैसी कोई पुत्र भी पिता की क्या करेगा।

फिर अजमेर में

२६ अक्टूबर को स्वामी जी आबू से अजमेर के लिए रवाना हुए। स्टेशन पर भक्तों की भीड़ स्वामी जी के स्वारथ्य समाचार जानने के लिए उत्सुकता पूर्वक प्रतीक्षा कर रही थी। जिन्होंने पहले कभी स्वामी जी का दर्शन किया था वे इस समय उन की निर्बलता देखकर स्तब्ध रह गए। इस समय वे मुंह से बोल नहीं सकते थे, मुख-जिह्वा-कण्ठ और ताल में छाले पड़े हुए थे। बिना सहायता के करवट भी नहीं ले सकते थे, पानी तक गले से नीचे नहीं उतर रहा था। अन्तर्दाह बहुत अधिक था, परन्तु होश हवास बिल्कुल ठीक थे।

अजमेर में स्वामी जी को मसूदा के ठाकुर साहब के बंगले पर, जो बाद में भिनाय की कोठी कहलाई, ठहराया गया।

डा० लछमनदास पहले अजमेर आ ही चुके थे। उन्हें सूचित किया गया। वे तुरन्त स्वामी जी की सेवा में उपस्थित हो गए। मौसम सर्दी का था और सब दरवाजे

खुले हुए थे। फिर भी स्वामी जी गर्मी के मारे बेचैन थे। डा० लछमनदास ने निदान किया कि स्वामी जी को डबल निमोनिया ने आक्रान्त कर लिया है। २६ अक्टूबर से उन्होंने पुनः इलाज प्रारम्भ किया, परन्तु स्वामी जी को आराम नहीं पड़ा।

जब रोग का पुनः तीव्र आक्रमण हुआ तब स्वामी जी ने अपने खीकार-पत्र (वसीयतनामे) की प्रतियां उपस्थित लोगों में वितरित करवाई। कई शाल और सहस्राधिक रुपया मंगाकर डा० लछमनदास को भेंट करना चाहा। पर डा० लछमनदास ने कहा : 'महाराज ! मेरे पास धन होता तो मैं इतना धन आपके एक एक लोम पर निछावर कर देता।' दोनों का हृदय भर आया।

उसी दिन जज राय भागराम और एकजी- क्यूटिव इंजीनियर सरदार भगतसिंह स्वामी जी से मिलने आए तो स्वामी जी ने उन से भी कहा कि यदि मेरा उपचार शुरू से ही डा० लछमनदास के हाथ में होता तो विष देकर मुझे संसार से हटा देने का षड्यंत्र विफल हो जाता।

जब कष्ट और बढ़ गया, तब डाक्टर न्यूमन साहब को बुलाया गया। वे भी स्वामी जी को देखकर हतप्रभ हो गए और आश्चर्य प्रकट करते हुए कहने लगे—‘धन्य है ऐसे सत्यपुरुष को। हमने ऐसी दृढ़ इच्छा-शक्ति, वाला मनुष्य आज तक नहीं देखा जो सिर से लेकर पांव तक इस प्रकार पीड़ातुर हो और उस के मुख से तिक सी आह भी न निकले।’ ऋषि का धैर्य इतना आश्चर्यजनक था कि जो भी देखता, दांतों तले अंगुली दबाकर रह जाता।

अगले दिन ३०, अक्टूबर को श्वास का वेग तीव्र हो गया। ऐसा लगता था कि स्वामी जी बारम्बार श्वास को रोक कर ईश्वर का चिन्तन कर रहे हैं। एक भक्त ने पूछा—‘आज आपकी तबियत कैसी है?’ स्वामी जी ने कहा—‘एक मास के बाद आज आराम का दिन है।’ लाहौर से आए श्री जीवनदास ने पूछा—‘महाराज! इस समय कहाँ हैं?’ स्वामी जी ने उत्तर दिया—‘ईश्वरेच्छा।’ स्वामी जी के मुख पर शोक या घबराहट के बजाय सन्तोष और वीरता का भाव देखकर सब चकित थे।

मृत्युशश्या पर

वार्तालाप करते करते ही सायंकाल के पांच बज गये। लोगों ने पूछा—‘अब आपकी तबियत का क्या हाल है?’ स्वामी जी ने कहा ‘अच्छा है। तेज और अन्धकार का भाव है।’

जब साढ़े पांच बज गए और तब स्वामी जी ने कहा कि सब आर्यजनों को बुलाओ और हमारे सिरहाने की ओर पीछे खड़ा कर दो।

जब सब लोग आ गए, तब कहा—‘चारों ओर के द्वार खोल दो और छत की ओर से रोशनदान भी खोल दो।’ तब तक उदयपुर नरेश की आज्ञानुसार श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या और लाहौर के आर्यजनों के प्रतिनिधि पं० गुरुदत्त विद्यार्थी भी वहां आ चुके थे।

स्वामी जी ने पूछा—‘आज कौन सा पक्ष, तिथि और वार है?’ किसी ने उत्तर दिया—‘कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष की सन्धि की सूचक अमावस्या और मंगलवार है।’ यह सुनकर स्वामी जी ने एक बार चारों ओर दृष्टि डाली, कुछ

वेदमंत्र पढ़े, संस्कृत में ईश्वर की प्रार्थना की, हिन्दी में कुछ स्तुति की और उस के बाद प्रसन्नचित्त होकर गायत्री मंत्र का पाठ करने लगे। कुछ देर तक समाधि की स्थिति में रहे और फिर नयन खोलकर मुख से इन शब्दों का उच्चारण किया—‘हे दयामय! हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर ! तेरी यही इच्छा है। तेरी इच्छा पूर्ण हो। अहा ! तूने अच्छी लीला की। इतना कहकर उन्होंने स्वयं करवट ली और एक बार श्वास रोक तीव्रगति से बाहर निकाल दिया।

३० अक्टूबर, सन् १८८३, दीपमाला का पर्व। उधर संध्या के समय भुवन-भारकर सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहे थे और इधर वैदिक धर्म दिवाकर महर्षि दयानन्द की आत्मा इस नश्वर शरीर को छोड़कर जगन्नियन्ता के सान्निध्य को प्राप्त हो गई।

इस करुण किन्तु बीरोचित मृत्यु के दृश्य को पं० गुरुदत्त विद्यार्थी मूक बन कर देखते रहे। विज्ञान के भक्त होने से उन के मन में ईश्वर के अस्तित्व के प्रति संदेह था पर जब एक योगी और ईश्वर विश्वासी को इस प्रकार मृत्यु का सहर्ष वरण करते देखा तो उन का वह संदेह, जो

उस समय तक किसी की युक्ति और तर्क से दूर नहीं था, विलीन हो गया और वे दृढ़ आस्तिक बन गए। इस भूलोक में ऐसा दृश्य दुर्लभ होगा जब एक मृत्यु ने भी किसी नास्तिक हृदय के मरुस्थल में आस्तिकता की पवित्र गंगा प्रवाहित कर दी हो।

स्वामी जी का जीवन जैसा दिव्य था, उन का महापरि निर्वाण उस से कम दिव्य नहीं था।

उदयपुराधीश महाराणा सज्जनसिंह ने स्वामी जी के र्खर्गवास का समाचार सुनकर निम्न शब्दों में अपने शोक-संतप्त हृदय का उदगार व्यक्त किया था—

जाके जीय और तें प्रपंच फिलासफिन को,
भारत सो समस्त आर्यमण्डल ते मान्यो मैं
वेद के विरुद्धी मत मत कुबुद्धि मन्द,
भद्र भद्र आदिन पैं सिंह अनुमान्यो मैं॥
ज्ञाता खट ग्रन्थना को वेद को प्रणेता जेता,
आर्य विद्या अर्क हू को अरत्ताचल जान्यो मैं।
स्वामी दयानन्द जू के विष्णुपद प्राप्त हूँ,
ते पारिजात को सो आज पतन प्रमान्यो मैं॥

स्वामी जी के परलोक प्रयाण का समाचार सुनकर दो संन्यासी आए और कहने लगे कि स्वामी जी यद्यपि हमारे प्रतिपक्षी थे और हमारा खण्डन भी किया करते थे, पर संन्यासी होने के नाते से हम अपना कर्तव्य समझते हैं कि उन के शव का दाहकर्म करने के बजाय उसे भूमि में गाड़ने की व्यवस्था करें, जैसी कि संन्यासियों की परम्परा है। आर्य पुरुषों ने उन्हें समझा दिया कि स्वामी जी अपने शव की अन्त्येष्टि के बारे में पहले ही से सब कुछ लिखकर आदेश दे गए हैं, इसलिए उसी के अनुसार कार्य होगा।

स्वामी जी के शव की अजमेर के मलूसर श्मशान में विधिवत् घृत, चंदन, कपूर आदि के साथ अन्त्येष्टि की गई। बाद में वहां एक वेदिका बना दी गई।

अजमेर के ही अनासागर सरोवर में उन की भरमी विसर्जित कर दी गई।

□ □ □

ऋषि दयानन्द के चरणों में श्रद्धांजलियाँ

मेरा सादर प्रणाम हो उस महान् गुरु दयानन्द को
जिस ने भारत के आध्यात्मिक इतिहास में सत्य और एकता
के दर्शन हुए और जिस के उज्जवल मानस ने भारतीय
जीवन के सब अंगों को प्रदीप्त कर दिया। जिस का उद्देश्य
भारतवर्ष को अविद्या, आलस्य और प्राचीन ऐतिहासिक तत्त्व
के अज्ञान से मुक्त कर सत्य और पवित्रता की जागृति में
लाना था। उस गुरु को मेरा बारम्बार प्रणाम है।………मैं
आधुनिक भारत के मार्गदर्शक उस दयानन्द को आदरपूर्वक
श्रद्धांजलि देता हूं जिस ने देश कर पतित अवस्था से
सीधे व सच्चे मार्ग का दिग्दर्शन कराया।

—विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर

"स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दू धर्म के सुधार का बड़ा कार्य किया और जहाँ तक समाज सुधार का सम्बन्ध है, वह बड़े उदार-हृदय थे। वे अपने विचारों को वेदों पर आधारित और उन्हें ऋषियों के ज्ञान पर अवलम्बित मानते थे। उन्होंने वेदों पर बड़े-बड़े भाष्य किये, जिससे मालूम होता है कि वे पूर्ण विज्ञ थे। उनका स्वाध्याय बड़ा व्यापक था।"

—मैक्समूलर

"ऋषि दयानन्द ने भारत के शक्ति शून्य शरीर में अपनी दुर्धर्ष शक्ति, अविचलता तथा सिंह-पराक्रम फूंक दिया है।"

'ऋषि दयानन्द उच्चतम व्यक्तित्व के पुरुष थे। यह पुरुष सिंह उनमें से एक था जिन्हें यूरोप प्रायः उस समय भुला देता है, जब कि वह भारत के सम्बन्ध में अपनी धारणा बनाता है। किन्तु एक दिन यूरोप को अपनी भूल मान कर उसे याद करने के लिए बाधित होना पड़ेगा, क्योंकि उस के अन्दर कर्मयोगी, विचारक और नेता के उपयुक्त प्रतिभा का दुर्लभ सम्मिश्रण था। दयानन्द ने अस्पृश्यता व अछूतपन के अन्याय को सहन न किया और उस से अधिक उन के

अपहृत अधिकारों का उत्साही समर्थक दूसरा कोई नहीं हुआ। भारत में स्त्रियों की शोचनीय दशा को सुधारने में भी दयानन्द ने बड़ी उदारता व साहस से काम लिया। वास्तव में राष्ट्रीय भावना और जन-जागृति के विचार को क्रियात्मक रूप देने में सब से अधिक प्रबल शक्ति उसी की थी। वह पुनर्निर्माण और राष्ट्रीय संगठन के अत्यन्त उत्साही पैगम्बरों में से थे।

—फ्रेंच लेखक रोम्यां रोलॉ

“स्वामी दयानन्द एकेश्वरवादी, वेद पर अपने सिद्धान्तों को मानने वाले, प्रगति समर्थक तथा देशोद्धारक थे।”

—मोनियर विलियम्स

“आर्यसमाज समस्त संसार को वेदानुयायी बनाने का स्वप्न देखता है। स्वामी दयानन्द ने इसे जीवन और सिद्धान्त दिया। उन का विश्वास था कि आर्यजाति चुनी हुई जाति है, भारत चुना हुआ देश है और वेद चुनी हुई धार्मिक पुस्तक है।”

—रेमजे मेकडानल्ड

“वह दिव्य ज्ञान का सच्चा सैनिक, विश्व को प्रभु की शरण में लाने वाला योद्धा और मनुष्य व संस्थाओं का शिल्पी

तथा प्रकृति द्वारा आत्मा के मार्ग में उपस्थित की जाने वाली बाधाओं का वीर विजेता था और इस प्रकार मेरे समक्ष आध्यात्मिक क्रियात्मकता की एक शक्ति-सम्पन्न मूर्ति उपस्थित होती है। इन दो शब्दों का, जो कि हमारी भावनाओं के अनुसार एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं, मिश्रण ही दयानन्द की उपयुक्त परिभाषा प्रतीत होती है। उस के व्यक्तित्व की व्याख्या की जा सकती है—एक मनुष्य, जिस की आत्मा में परमात्मा है, चर्म चक्षुओं में दिव्य तेज है और हाथों में इतनी शक्ति है कि जीवन-तत्त्व से अभीष्ट स्वरूप वाली मूर्ति गढ़ सके तथा कल्पना की क्रिया में परिणत कर सके। वह स्वयं दृढ़ चट्टान थे। उन में दृढ़ शक्ति थी कि चट्टान पर धन चला कर पदार्थों का सुदृढ़ व सुडौल बना सकें।

—योगी अरविन्द घोष

“ऋषि दयानन्द जाज्वल्यमान नक्षत्र थे जो भारतीय आकाश पर अपनी अलौकिक आभा से चमके और गहरी निद्रा में सोए हुए भारत को जागृत किया। “स्वराज्य” के वे सर्वप्रथम संदेशवाहक तथा मानवता के उपासक थे।”

—लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

“महर्षि दयानन्द के उपदेशों ने करोड़ों लोगों को नवजीवन, नवचेतना और नया दृष्टिकोण प्रदान किया है। उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए हमें व्रत लेना चाहिए कि उन के बताये मार्ग पर चलकर हम देश को सुख, शान्ति और वैभवपूर्ण बनायेंगे।”

—डा० राजेन्द्र प्रसाद

“मैं स्वामी दयानन्द को साम्प्रदायिक नहीं मानता। मेरे विचार में वे महान् थे। उन का धर्म विस्तृत था। मैं उन्हें राजनीतिक पुरुष भी मानता हूँ।”

—राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

“हमें ऋषियों की संतान होने का सौभाग्य प्राप्त है और इसके लिए हम गर्व करते हैं तो कहना होगा कि ऋषि दयानन्द से बढ़कर हमारा उपकार इधर किसी भी दूसरे महापुरुष ने नहीं किया, जिन्होंने स्वयं कुछ भी न लेकर हमें अपार ज्ञान-राशि वेदों से परिचित करा दिया।”

—महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी ‘निराला’

देव दयानन्द

—पं० सत्यपाल पथिक

- दुनियां वालो देव दयानन्द दीप जलाने आया था ।
 भूल चुके थे राहें अपनी वह दिखलाने आया था ।
- १ — घोर अंधेरा जग में छाया नज़र नहीं कुछ आता था ।
 मानव मानव की ठोकर से जब टुकराया जाता था ।
 आर्य जाति सोई पड़ी थी घर घर जा के जगाता था ।
 दुनियां वालो देव दयानन्द दीप जलाने आया था ।
- २ — बट गया सारा टुकड़े टुकड़े भारत देश जागीरों में ।
 शासन करते लोग विदेशी जोश नहीं था वीरों में ।
 भारत मां को मुक्त किया जो जकड़ी हुई थी जंजीरों में ।
 दुनियां वालो देव दयानन्द दीप जलाने आया था ।
- ३ — जब तक जग में चार दिशाएं कुदरत के ये नजारे हैं ।
 सागर, नदियां, धरती, अम्बर, जंगल, पर्वत सारे हैं ।
 'पथिक' रहेगा नाम ऋषि का जब तक चांद सितारे हैं ।
 दुनियां वालो देव दयानन्द दीप जलाने आया था ।
 भूल चुके थे राहें अपनी वह दिखलाने आया था ।

मेरा गुरु

—पं० सत्यपाल पथिक

सूरज बन दूर किया जिसने पापों का घोर अंधेरा।
वह देव गुरु है मेरा।

मथुरा नगरी से उदय हुआ गुरु विरजानन्द का चेरा।
वह देव गुरु है मेरा।

गुरुवर को था जो वचन दिया प्राणों के साथ निभाया।
और पर उपकार में ही जिसने अपना सर्वस्व लगाया।
तजा भूख प्यास सरदी गरमी देखा नहीं साँझ सवेरा।

वह देव गुरु है मेरा।
यहां छूआ छूत और भेद भाव के लाखों थे मतवाले।
और भीली भाली जनता को डसते थे विषधर काले।
पर वेद की बीन सुना सबको जो कर गया मरत सपेरा।

वह देव गुरु है मेरा।
लाखों व करोड़ों दुखते दिलों का दर्द था जिसके दिल में।
ईटें पथर खा ज़हर पिया हंसता ही रहा मुश्किल में।
यहाँ जिस की बदौलत सत्य धर्म ने डाला फिर से फेरा।

वह देव गुरु है मेरा।
हर विषय में जो देता था हमेशा बड़ी-बड़ी तफसीलें।
सिन्धु से गहरी नभ से ऊँची गिरी से मज़बूत दलीलें।
था जिसने 'पथिक' दुनियाँ पर मानवता का रंग बिखेरा।

वह देव गुरु है मेरा।

